TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_176611
UNIVERSAL
LIBRARY

रूप औ' अरूप

आचार्य्य श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री

प्रकाशक
पं० श्रीरामानुग्रह शर्मा
साहित्य-निकुञ्ज
मैगरा (गया), बिहार

प्रथम संस्करण
नवम्बर १९३९
बारह आने

मुद्रक
ना. ग. सोमण
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस
बनारस

भूमिका

छायावाद काव्यप्रवाह हिन्दी में अब अपनी सुनिश्चित धारा बना चुका है। अब वह केवल विरोध की वस्तु नहीं, न केवल वाचिक अभ्यर्थना का विषय ही रह गया है। अब तो उसकी सम्यक् समीक्षा और परीक्षा भी की जा सकती है। आरंभ से ही अपनी छायात्मक निगूढ़ अभिव्यक्तियों के कारण छायावाद आध्यात्मिक काव्य कहा जा रहा था। पूर्ववर्ती भक्ति काव्य की साकार वर्णनाओं के विपरीत इसकी निराकार पद्धति थी। किन्तु इसका यथार्थ रूप अब तक स्पष्ट नहीं किया गया। छायावाद की पद्धति कबीर आदि की निर्गुण निराकार व्यंजनाओं से भिन्न तो है ही, सूफियों की सगुण निराकार पद्धति से भी पृथक है। उक्त दोनों परंपराएँ प्रमुखतः आध्यात्मिक कही जा सकती हैं, यद्यपि सूफी कवियों ने लौकिक संस्कृति के निर्माण में भी कम सहायता नहीं दी। आधिभौतिक पक्ष में देखा जाय तो एक ओर उमरख़ैयाम और दूसरी ओर फिरदौसी तथा भारत के जायसी आदि कवियों में बहुत बड़ा दृष्टि भेद है। इन सभी कवियों ने सामयिक संस्कृति और देश काल की विचार धाराओं को भिन्न-भिन्न स्वरूपों में व्यक्त किया है।

उदाहरण के लिए उमरख़ैयाम की काव्यधारा अदृष्ट, भाग्य या नियति के कठोर चक्र से मानों भयभीत होकर उससे तटस्थ हो जाने का आमंत्रण करती है। उनका काव्य ईरान और फारस की एकान्त वाटिकाओं और उपवनों में दो प्राणियों की प्रेम-परिचर्य्या का ही सरल आदर्श लेकर उपस्थित हुआ। तत्कालीन कट्टर मस्जिदवादियों के लिए भी उसमें कुछ कम फटकार न थी। फिरदौसी आदि की रचनाएँ उनसे भिन्न वातावरण और विचारक्रम का द्योतन करती हैं। जायसी आदि भारतीय सूफियों की कविता न तो उमरख़ैयाम का सा भाग्यवाद प्रवर्तित करती है और न दो प्राणियों के एकान्त जीवन और औपवनिक परिस्थितियों का प्रदर्शन करती है। न वह अरबी सूफियों की तरह इस्लाम की छत्र छाया में ही विकसित हुई है। व्यापक भारतीय जीवन और सौन्दर्य के अनेकानेक दृश्यों के बीच से होकर यह काव्य धारा अग्रसर हुई है। इस प्रकार देश, काल और विचारक्रम में भेद होते हुए भी सूफी काव्य मुख्यतः आध्यात्मिक कहा जा सकता है क्योंकि उसका लक्ष्य, निराकार प्रेम की अनुभूति, सबमें समान रूप से पाया जाता है। उसके लौकिक, देशकालसंभूत और सांस्कृतिक पहलू प्रधान स्थान नहीं पा सके हैं, काव्य के प्राण प्रेम—अलौकिक प्रेम—में ही अटके हैं।

कबीर आदि ज्ञानमार्गियों की आध्यात्मिकता तो एक दम ही स्पष्ट है। रहस्यमय सत्ता की अभिव्यक्ति और संसार मिथ्या की सुदृढ़ धारणा उनके अध्यात्म के अविचल स्तंभ हैं। आध्यात्मिक काव्य के लिए एक अखंड सत्ता वह प्रेममय हो, ज्ञानमय या आनन्दमय का स्वीकार जितना अनिवार्य है सांसारिक सत्ता का तिरस्कार भी उतना ही अनिवार्य है। आध्यात्मिक काव्य की यही कसौटी ही है। साकारोपासक भक्तों ने भी राम कृष्ण आदि के चरित्रों को अखंड अव्यय की लीला, दिव्य और अलौकिक कह कर इसी कसौटी को स्वीकार किया है और संसार की, प्राकृतिक किसी भी सत्ता की स्वीकृति सिद्धान्ततः वे भी नहीं करते। यह अवश्य है कि साकारोपासक कवियों ने सांस्कृतिक, नैतिक और जीवन के व्यावहारिक पक्षों का विस्तृत दिग्दर्शन कराया है किन्तु उनकी दृष्टि अलौकिक आदर्श पर ही रही है। संसार की दृश्यमान वास्तविकता और तज्जनित प्रगतियों से वे दूर ही रहे हैं। तथापि इन कवियों ने जीवन के बहुविध रूपों रंगों का सौन्दर्य दिखाया और तत्कालीन संस्कृति के निर्माण में बड़ी सहायता पहुँचाई। आदर्श और अलौकिक का आधार लेकर वे इतना भी कह गए यह कम आश्चर्य की बात नहीं। कबीर आदि निर्गुणियों ने भी आत्मा की व्यापक सत्ता घट-घट में दिखाई और उसे

पहचानने का आग्रह किया। साधन रूप में उन्होंने सरल, निश्छल त्यागमय जीवन की शिक्षा दी और जाति-पाँति के भेदों का निषेध किया। किन्तु उनका लौकिक क्षेत्र सीमित था क्योंकि अध्यात्म लोक से परे की वस्तु है जिसकी साधना तटस्थ और ऐकान्तिक ही हो सकती है। यही कारण है कि कबीर आदि कवियों ने उस काल की पार्थिव समस्याओं का समाधान केवल आध्यात्मिक आधार पर किया है, जिसमें आज एक अवास्तविकता नज़र आती है।

अस्तु, मध्यकालीन काव्यधाराएँ सब अध्यात्म में ही समन्वित हुई हैं। यद्यपि उन सभी में प्रकारान्तर से लौकिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक सामग्री की कमी नहीं है, किन्तु उनका दर्शन अध्यात्म में ही पर्यवसित होता है।

छायावाद का ऐसा ही एक आध्यात्मिक पक्ष भी है, किन्तु मेरे विचार से उसकी एकमात्र प्रेरणा आध्यात्मिक नहीं है, वरं वह मुख्यतः मानवीय और बौद्धिक भी है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की आरंभिक वैज्ञानिक और बौद्धिक सभ्यता की काव्याभिव्यक्ति भी कह सकते हैं। आधुनिक परिवर्तनशील संस्कृति के निर्माण और अभिव्यंजन में उसका एक प्रमुख स्थान है। जिस प्रकार मध्य युग का जीवन भक्तिकाव्य

में व्यक्त हुआ उसी प्रकार आधुनिक जीवन इस काव्य में व्यक्त हो रहा है। अंतर है तो इतना ही कि भक्तिकाव्य के लौकिक और व्यावहारिक पहलुओं, जीवन-सौन्दर्य के अंशों को गौण स्थान देकर उन्हें आध्यात्मिक धारा में प्रवाहित कर दिया गया है किन्तु छायावाद प्राकृतिक सौन्दर्य और सामयिक जीवन की समस्याओं से मुख्यतः अनुप्राणित है। इस दृष्टि से देखा जाय तो वह पूर्ववर्ती भक्तिकाव्य की प्रकृति-निरपेक्षता और संसार-मिथ्या की सैद्धान्तिक प्रक्रियाओं का विरोधी भी है। वह मानव-जीवन, सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है, उसे अव्यय की वेदी पर बलिदान नहीं करता। वह अपने पूर्व युग के करुण आदर्शवाद (जो शिथिल समाज व्यवस्था का परिणाम था) के विरुद्ध ओजस्विनी प्रतिक्रिया है। वह सामयिक जीवन के सौन्दर्य, आकांक्षाओं और समस्याओं का सुरुचिपूर्ण प्रतिबिंब है।

आध्यात्मिक काव्य तन्मयता, भावातिरेक और अविचल आत्मानुभूति के साथ-साथ पूर्ण अनासक्ति के आदर्शों की स्थापना कर वह मानों छुट्टी ले लेता है। उसका अधिष्ठान देशकालातीत, परम पवित्र अव्यय सत्ता है किन्तु व्यय-शील सांसारिक आदर्शों, स्थितियों आदि की ओर उसका ध्यान नहीं सा है। वह विकास जो समय का आश्रित है,

वह विज्ञान जो बुद्धि और भौतिक द्रव्य तथा उसकी परिणतियों पर अधिष्ठित है, आध्यात्मिक काव्य के विषय नहीं हैं। प्रत्यक्ष वस्तु का मानव-जीवन के सुख-दुःख, सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि की अवस्थाओं से जो घनिष्ठ संबंध है, अध्यात्म उसकी उपेक्षा कर गया है। किन्तु आधुनिक काव्य उसकी उपेक्षा नहीं करता। आध्यात्मिक परंपरा दृश्य मात्र को विनाशी कह कर चुप हो रहती है अथवा व्याव-हारिक बतला कर मुँह मोड़ लेती है। वह परम सत्य नहीं है इसलिए अध्यात्म में उसके लिए स्थान नहीं है। दैन्य से पीड़ित और प्रताड़ित अथवा भोगैश्वर्य से परिवेष्टित व्यक्ति या समुदाय, देश, राष्ट्र या सृष्टिचक्र के विभेदों में अध्यात्म नहीं जा सकता। समय और समाज को आन्दोलित करने वाली शक्तियों का आकलन वहाँ नहीं है। वह तो उस शाश्वत सत्ता से ही सर्वथा संप-र्कित है जिसमें परिवर्तन का नाम नहीं। उस सत्ता का स्वरूप सगुण है या निर्गुण, साकार है या निराकार, विश्वमय है या विश्वातीत ये प्रश्न अध्यात्म में आते हैं किन्तु ये अव्यय सत्ता संबंधी प्रश्न ही हैं। परिवर्तन-शील प्रत्यक्ष सत्ता, तज्जन्य अनुभूतियों आदि से उसका नगण्य संबंध है। वह अत्यंत अंतरमुख और भावमूलक विज्ञान है।

छायावाद इससे कहीं अधिक व्यावहारिक और प्रत्यक्ष वस्तुगत काव्यधारा है। मैं कह चुका हूँ कि यह व्यष्टि बुद्धि को स्वीकार करती है और भौतिक कारणों से उत्पन्न नवीन परिस्थिति के अनुरूप बनी हुई है। यह भौतिक द्रव्य और मानव बुद्धि के आघात-प्रतिघातों से मुँह नहीं मोड़ना चाहती। छायावाद का आरंभ प्रकृति की अनिर्वचनीय सुषमा की अभिनव आराधना से ही हुआ था, जो पूर्वकालीन भक्तिकाव्य में देख ही नहीं पड़ती।

तुम कनक किरण के अंतराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों?
नतमस्तक गर्व वहन करते,
जीवन के घन रसकन ढरते,
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यों?

यह रहस्यात्मक प्राकृतिक सौन्दर्य की अनुभूति साकार पुरुषाराधना से भिन्न तो है ही निर्गुण निराकार की आध्यात्मिक परंपरा से भी पृथक् है। यह प्रत्यक्ष की इन्द्रियगम्य सौन्दर्यानुभूति है, इसमें प्रथम बार नवीन दर्शन की झलक आई। इसकी नवीन मुद्राएँ, नव्य सौन्दर्य-प्रतीक नई दृष्टि का आगम इंगित करते हैं।

क्रमशः छायावाद-काव्य की बौद्धिक परिपाटी और

व्यावहारिक मानवता, तथा प्राकृतिक सौन्दर्य भंगिमाएँ अधिकाधिक स्पष्ट होती गई हैं। 'प्रसाद' से लेकर जानकी-वल्लभ तक नवयुग की वाणी में यही अव्याहत ध्वनित हो रहा है। कहना होगा कि विकासशील संस्कृति की यही प्रतिनिधि वाणी है और इसमें पूर्वकाल के आध्यात्मिक 'साम्य' या 'संन्यास' की अपेक्षा नवीन बौद्धिक प्रकर्ष ही अधिक ओजस्वी हुआ है। नीचे मैं जानकीवल्लभ के ही उदाहरण दूँगा :—

जीवन का कितना घना मोह!
खलता पल भर भी नहीं आज
उस दयित मृत्यु का नव-विछोह!
थे छिन्न-भिन्न श्लथ तार-तार
मेरी तंत्री थी पड़ी मौन,
छू कर कोमल कर से अजान
सुन रहा आज झंकार कौन?
मधु गीत मधुरतर स्वरारोह!
चिर तिमिर-अन्ध बंधन गृह-में
आ मन्द मन्द मेरे समीप,
कब निस्तरंग-शिख जला गया,
वह कनक-अंग मंगल प्रदीप
जिसका पथ मैं था रहा जोह!

इस पद्य के 'मंगल प्रदीप' का प्रकाश 'सुरति-ज्योति' की पुरानी आध्यात्मिक-व्यंजना से भिन्न है। यह 'जीवन के मोह' से उद्दीप्त प्रकाश है, जीवन की निस्सारता से अतिक्रान्त नहीं। इसका 'मधुगीत और मधुरतर स्वरारोह' एक ऊर्जस्वित उमंग ही है, 'अनाहत ध्वनि' नहीं है।

बहुत दिनों के बाद प्रकृति के हृदय-विमोहक सौन्दर्य को काव्य में यथोचित स्थान मिला। आध्यात्मिक काव्य के लिए या तो वह माया मात्र थी, या दृष्टांत की सामग्री मात्र। फिर पीछे की कविता में वह 'शृंगार' की उद्दीपन भर रह गई थी। जानकीवल्लभ 'पावसबाला' कह कर उसकी मर्यादा बढ़ाई और स्वागत किया है:—

झलमल-मुक्तादल-नव - जल - धर —
जलधर - कुंतल - जाला।
कज्जल - कल, चपला—चल लोचन
गोरोचन - रुचि—भाला।
विमल बलाका-माला, सुरधनु—
अनुरंजित वर अंबर।
मदिर मंद मंथर गत आगत
स्वागत पावस - बाला।

आप देखेंगे कि इस पदावली की भाषा संस्कृत-की सी जटिल नहीं है। यह पंडित अयोध्यासिंह

उपाध्याय 'हरिऔध' जी की समस्त पद-रचना से भी मेल नहीं रखती। यह नवीन अभ्यास है।

ऊपर वे कुछ उदाहरण चुने गए हैं जिनमें प्राकृतिक प्रतीकों के भीतर छायात्मक आध्यात्मिक ध्वनि है। छायावाद की रचना हम उसे ही कह सकते हैं किन्तु जानकीवल्लभ की सब रचनाएँ छायावाद के अंतर्गत नहीं हैं।

नीचे के पद्य में अध्यात्म प्रायः शून्य में परिणत है:—

सांसों से कसे हुए उर में,
है सिसक रही मुक्ति की चाह
जीवन में वह छन कब आया
जिसमें न रहा कुछ ओह आह !
क्या कहूँ न हूँ मैं तो कुछ भी
पर तू भी निर्गुण निराकार !

यहां जीवन के वास्तविक 'आह, ओह' का उल्लेख है, निर्गुण निराकार का व्यंग्यात्मक प्रयोग है। इसके आगे दृष्टि का मानसिक या बौद्धिक हो जाना बहुत स्वाभाविक है। नीचे का पद्य भी ऊपर की ही धारा में है:—

अपना अपनापन भी हो !
तू सौरभ सा बसा रहे पर मेरा सुमन सुमन भी हो !
बड़ी साध उजड़ी कुटिया में
तुझे - बुलाऊँ, बिठलाऊँ,

तेरे चरणों पर अर्पण को
मेरा निज जीवन भी हो !

यहां आध्यात्मिकता झटका खा रही है और दुःखातिरेक अधिकार कर रहा है। मेरे कहने का यह आशय नहीं कि छायावाद या अन्य आध्यात्मिक काव्यधारा में दुःख के लिए स्थान नहीं है पर उसका स्वरूप इससे भिन्न होगा। इन दोनों ही पद्यों में आध्यात्मिक छाया की विदाई सी है।

इसी स्थिति की द्योतक रचना यह जान पड़ती है :—

दूर देश है जाना,
जहां न कोई भी मेरा, अपना जाना पहचाना
तपना तनिक धूप में, पल भर
छांह देख सो जाना।
धीरे धीरे धूप-छांह से अजी, पार हो जाना।
फिर आने की कौन बताए—
आज अभी तो जाना।

स्मृति के डूब जाने, आत्मिक छाया के विलीन हो जाने पर रंगभूमि में निराश बुद्धि का प्रवेश होता है। वह कुछ खोई-खोई सी है—अंतरंग साथी खो जाने की सी स्थिति में। वह चाहे जितने साहस की बातें करें, उसकी आँखों में हार के लक्षण हैं। जानकीवल्लभ के कई गीत इसी स्थिति के द्योतक हैं। जैसे यह साहस—

आँखें करते ही बंद पहुँच जाएँ हम पार समुंदर के
ऐसे जादू का काम नहीं, जाएँगे जी तिरके, मर के !
अज्ञात क्षितिज की ओर चले हम, ज्ञात आपदाएँ आएँ,
उनको निज कृति पर लाज नहीं, हम ठुकराते क्यों शरमाएं ?

इन तथा ऐसे ही मनोभावों से अधिकांश पुस्तक भरी हुई है। मैं कह चुका हूँ कि आत्मस्मृति को खोकर निराश बुद्धि रंगमंच पर आई हुई है। अब आगे वह चाहे निराशा के गीत गाती रहे या क्रान्ति की सीमा पर पहुँच जाय, कवि की भविष्य प्रगति ही बता सकेगी।

... ...

नवीन आकांक्षाओं, नई परिस्थितियों और विचार प्रवाहों से ही नई संस्कृति का निर्माण होता है। नव-निर्माण या परिवर्तन काल में कोई भी काव्य-धारा मानवीय भावनाओं और सामयिक रूपों, रंगों, सौन्दर्य दृष्टियों, प्रतीकों और आदर्शों से ही ओतप्रोत होगी। आध्यात्मिक ध्वनियाँ और संकेत उसमें हो सकते हैं, किन्तु छायावाद में न तो रूढ़िबद्ध अध्यात्म का समावेश है और न आध्यात्मिक तथ्य की प्रमुखता ही है। हिन्दी काव्यधारा छायावाद के रूप में नवीन प्राकृतिक सौंदर्य और नई बौद्धिक स्फूर्तियों का सृजन और संचय कर रही है, उन्हें अपना रही है, समय का साथ दे रही है।

कहा जा सकता है कि इन समस्त बहिरंग प्रवृत्तियों के होते हुए भी छायावाद की दार्शनिक भूमि आध्यात्मिक ही है। इस संबंध में मुझे यह कहना है कि आधुनिक काव्य किसी क्रमागत अध्मात्मपद्धति पर नहीं चला। नवीन जीवन और प्रगति में ही उसने आत्म-सौन्दर्य की झलक देखी है। परंपरित अध्यात्मकी भाँति पुरुष से प्रकृति की ओर इसकी प्रवृत्ति नहीं है, प्रकृति से पुरुष की ओर है। दृश्य से, रूप से, भाव की ओर है। इस संबंध में कवि रवीन्द्रनाथ के अभिनव काव्योत्थान से उसे कम प्रेरणा नहीं मिली है। जीवन शाश्वत आनंद के लिए हो है। उसे ही दूसरे शब्दों में आत्म-साक्षात्कार कहते हैं। किन्तु यह आत्म-साक्षात्कार प्रकृति के सौन्दर्य और सामयिक जीवन की प्रगति का निरादर करके, अथवा उससे निरपेक्ष होकर पाने की आवश्यकता नहीं है। वरं प्रगति में ही, प्रकृति में ही, निरवयव सौन्दर्य की सत्ता समाहित है। उसे वहीं देखें और पहचानें। इस प्रकार समय का समन्वय शाश्वत सौन्दर्य में हो जाता है और शाश्वत सौन्दर्य भी समय के चित्रपट पर प्रतिष्ठित हो जाता है। हम दृश्य वस्तु और तत्संबंधी विज्ञान की अवहेलना करने से बच जाते हैं। छायावाद काव्य का आध्यात्मिक स्वरूप ऐसा ही प्रतीत होता है।

छायावाद की काव्य प्रगति ही क्रमशः आगे बढ़कर बौद्धिक, वैज्ञानिक या भौतिक यथार्थवाद में परिणत हुई है। यथार्थवाद दार्शनिक परिभाषा के अनुसार अनात्म दर्शन है। इसकी काव्य प्रक्रिया छायावाद से कई अंशों में भिन्न है। यह स्वाभाविक भी है, जब कि यथार्थवादी की जीवन-संबंधिनी दृष्टि ही भिन्न आधारों और वसूलों पर स्थित है। कुछ कवि जिनमें श्री सुमित्रानंदन पंत प्रमुख हैं, दार्शनिक विचार से अध्यात्मवादी होकर भी काव्य में बौद्धिक विज्ञान या यथार्थवाद का प्रयोग कर रहे हैं, किन्तु यह क्रम क्षण-स्थायी है और परिवर्तनकाल भर ही ठहर सकता है। जानकीवल्लभ इस मिश्रित शैली से पृथक् पथ पर हैं।

प्रगति में आत्मानुभूति यथार्थ होनी चाहिए, बनावटी नहीं। यदि ऐसा नहीं है, यदि हम केवल प्रगति में ही अटके हैं, उसमें निहित सत्य की सुषमा को नहीं देखते तव तो वास्तविक प्रगति से बहुत दूर हैं, स्थूल दृश्यों और रूपों के भारवाही मात्र हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि निस्संग प्रगति का दूरदर्शी प्रकाश नवीन काव्य में सर्वत्र नहीं है, कहीं-कहीं प्रगति के नाम पर वहुत अधिक संकीर्णता और अगति भी आ गई है। समीक्षक ऐसे काव्य को सदैव हतोत्साहित करते रहेंगे।

मूर्च्छा की औषधि करनी ही होगी। कुछ लोग इसे नवीन भौतिक दर्शन के साथ साथ अनिवार्य कहते हैं, किन्तु हम ऐसा नहीं मान सकते।

एक ही बात और कहनी है। नवीन काव्य ने बुद्धि का पल्ला पकड़ा है, किन्तु बुद्धि विपथगामिनी भी हो सकती है और उन्नति के मार्ग में रोड़े का काम भी कर सकती है; बुद्धि मनुष्य की प्रगति का जहाँ सर्वप्रमुख संबल है वहाँ वह प्रबल मार्ग बाधक भी है। इसके दुरुपयोगों के कम उदाहरण हमारे सामने उपस्थित नहीं हैं।

बुद्धि की सहायता विना आत्म ज्योति क्षीण पड़ जाती है, किन्तु भ्रान्त बुद्धि के योग से तो वह मलिन और उद्देश्य-भ्रष्ट ही हो जाती है। इनके एक एक उदाहरण लीजिए। भक्तिकाल में जिस उन्नत काव्य का सृजन हुआ उसमें बुद्धि का पूर्ण सहयोग था। किन्तु क्रमशः आध्यात्मिकता का बुद्धि से संसर्ग कम होता गया जिससे आध्यात्मिकता रूढ़िबद्ध और असमीचीन हो गई। यह युग सामाजिक अवनति का था जिसमें सांप्रदायिक काव्य का प्रसार ही रहा। मेरा मतलब अठारहवीं और उनीसवीं शताब्दी के भक्ति काव्य से है। बुद्धि ने उस काल के काव्य में योग देना छोड़ दिया था। फलतः काव्य गतानुगतिक हो गया था और

सामाजिक स्थिति शिथिल तथा चिन्तनीय हो गई थी। अब दूसरा उदाहरण भी देखिए। बुद्धि का आत्मबल नष्ट हो जाने पर भी काव्य की दुर्गति होती है। रीति काल की निकृष्ट कोटि की बौद्धिक शृंगारिकता, जिसका कोई भी लक्ष्य नहीं, ऐसी ही एक वस्तु है। यह मन और इन्द्रियों का स्खलन सामाजिक और राष्ट्रीय दौर्बल्य का द्योतक और उसका कारण भी सिद्ध हुआ था। इसकी पुनरावृत्ति से सावधान रहने की आवश्यकता बहुत ही स्पष्ट है।

मुझे बड़ी ही प्रसन्नता है कि जानकीवल्लभ संस्कृत से हिन्दी में आए हैं। हिन्दी में वे सामयिक काव्य धारा और सामयिक प्रकाशन शैली के एक सुंदर प्रतिनिधि हैं यह और भी प्रसन्नता की बात है। आशा है वे आधुनिक काव्य का विकास अक्षुण्ण रखने में सब प्रकार से शक्ति भर योग देंगे।

—नन्ददुलारे वाजपेयी

१

रूप औ' अरूप

१९३५–३७ के

कुछ

प्रारम्भिक गीत

तारिका

१

यह सँवार सितार आया।
शारदे, झंकार दे सब तार,
तेरे द्वार आया।
कूकती कोयल, भ्रमर की गूँज भी सब ओर छाई,
बाग-बाग बहार, पर इस डार में पतझार आया;
फूल एक मिला नहीं, पाता कहाँ मैं हार उज्ज्वल,
आज सूने-हाथ तेरे पास, हो लाचार, आया,
सब तरफ़ से हार आया।
मंज़िलें तै कीं सभी ने, आह! राहों से कँटीली,
तब दृगों में आँसुओं के साथ, पारावार आया;
देख वह लहरें उमड़ती, जब मुझे तज कर गए सब,
चीरता फिर तीर सा, कितनी प्रखर-तर धार, आया,
एक मैं इस पार आया।

२

रिक्त निरन्तर मेरा अन्तर ।
अपनी ही शुचि-रुचि से दो तुम ,
निर्मल परिमल, सुमधुर मधु भर ।
तपा जगत के गत तापों से ,
घिरा अखर्व गर्व, पापों से ,
नत मस्तक पर शत शापों से ,
धर दो मङ्गल-कर अपना कर ।
बहु-छिद्रों से भरा, हरा पर ,
मेरा जीवन-वेणु सरलतर ,
भर दो अपना अविनश्वर स्वर—
मेरे देव ! सत्य, शिव, सुन्दर ।

३

विश्व तुम्हारी माया।
ज्योतिर्मय! यह अन्धकार
छाया न, तुम्हारी छाया।
जलता नभ रवि की पी हाला,
उगल रहे तरु पल्लव-ज्वाला,
जग के सजग ताप में निखरी
कनक तुम्हारी काया।
तोड़-तोड़ कर प्रस्तर के स्तर
झरता जीवन-निर्झर झर-झर,
मरण, यहाँ पाने को जीवन
शरण तुम्हारी आया।

४

जीवन का कितना घना मोह !
खलता पलभर भी नहीं आज,
चिर-दयित मृत्यु का नव-विछोह !!
थे छिन्न-भिन्न, श्लथ, तार-तार,
मेरी तन्त्री थी पड़ी मौन,
छू कर कोमल कर से अजान
सुन रहा आज झङ्कार कौन !
मधु गीत, मधुरतर स्वरारोह !!
चिर तिमिर-अन्ध बन्धन-गृह में
आ मन्द-मन्द मेरे समीप,
कब निस्तरङ्ग-शिख जला गया
वह कनक-अङ्ग मङ्गल-प्रदीप !
जिसका पथ मैं था रहा जोह !!

५

यह पहली पहचान ।
और बार आ बन्द द्वार तक,
जाता लौट अजान ।
इस पथ के अथ-इति तक, मेरे-
अणु-अणु परिचित, निपट घनेरे,
'पहला पथिक' पुकार प्यार से
करते सब सम्मान ।
और, पहुँच उस ठौर नम्र-मुख
देखा—आज विराजे सम्मुख,
भगा अध्व-श्रम, लगा हृदय से,
उनने कहा—महान

६

वासर विभावरी ;
जीवन की लहरों से घिर-घिर
तिरती स्वर्ण-तरी ।
निज निःश्वास-समीरण से क्या भीति ?
परिचित जगत-जलधि की पद्धति, रीति,
क्यों इतनी उत्कट उस तट से प्रीति !
बढ़ती ही जाती, अग्रिम-दुख-
उन्मुख, सुख-सिहरी ।
पहुँच सकेगी क्यों न लक्ष्य पर, पार,
अपने जीवन की कितनी खर धार !
अपनापन का सपना-सा संभार !!
तिरते को क्या डर, श्यामल-
जल-राशि कहाँ गहरी !
वासर विभावरी ।

७

सुनो, यह है अगीत सङ्गीत।
सुलझाते ही तन्त्री के तारों को
बीत गए इतने दिन छिन से मेरे;
तुम्हें रिझाने को, गुन-गुन कर चुनते
असम पद, सम अभिनव नवनीत।
चटक अचानक उठीं बकुल की कलियाँ,
आज लगीं गाने चल-अलि-आवलियाँ,
छू उर बही वसन्त-समीर विपिन में,
मन्द, मृदु, मधुर, मदिर, रस-शीत।
किसलय का किस लय से निकला मर्मर?
कैसा राग—पराग, सुमन के मन का?
लगे तान क्या लता-प्रतान सुनाने?
हो गया जीवित स्वप्न अतीत।
चला तुरत तब कलाहीन लेकर मैं
वही पुरानी बीन क्षीण-गुण, निर्गुण!
अपनाने को तुम्हें, आत्म-व्यञ्जन को,
स्वरों में भर तव गीत पुनीत।

८

प्रिय-मिलन की बात;
कठिन कितनी, विवश, परवश,
बस विरह सह-जात।
प्राण ये—अनजान, ठाने एकपन की ठान,
देखता जग, विलग युग-युग
से रहे युग-गात।
जवनिका काली गई डाली, विलोचन बन्द,
बन गया मेरे लिए अब
एक स्वप्न, प्रभात।

९

तू निष्काम, कामना तेरी
नित्य वृद्धि-पर, मति में मेरी।
सुख-सन्तोष ओस-कण-से अब
ढुलक रहे इस किसलय से सब,
मेरे जीवन के नत तरु का,
प्रतिदल प्रतिपल नीरस एरी।
सघन नहीं, यह पतझर का वन,
ढूँढूँ क्या? मेरा मन निर्जन,
आया तू न आज तक तेरी,
राह आह भर हरदम हेरी।

१०

जीवन का ध्रुव-तारा री।
तुम्हीं बनो प्रिय, कौन दूसरा
मेरा यहाँ सहारा री।
चौंक पड़े क्यों? तुनुक प्रेम का
बन्धन, मुक्त रहोगे,
न्यायाधीश स्वयं, विशङ्क-उर
तुम अभियुक्त रहोगे;
अपनी देखरेख, अपनापन,
अपने मन की कारा री।
देख हवा, फिर मैं चल दूँगी
लक्ष्य-हीन चुपचाप,
क्या डर? हो तूफान, घोर तम,
उपल, तुहिन या ताप!
मेरी नाव बँधेगी, लग-
जाएगी जहाँ किनारा री।

११

बसेरा लूँ तेरे वन में ;
रखे जो निज कुलाय घन में।
धूप सा रूप न दिखलाना,
फैलाना वल्लरि की बाँह ;
नत-तन तपा किया हर रोज़,
देना मुझे सुशीतल-छाँह ;
कहे तू—आजाऊँ छन में,
बसेरा लूँ तेरे वन में।
रक्खूँ हरदम फैला पंख
मधुर तव हास-समीरण में,
सुनाऊँ सुख-दुख के कुछ गीत
किए सञ्चित जो जीवन में ;
अनगिनित यों साधें मन में
बसेरा लूँ तेरे वन में।

१२

जीवन-वन में बन सुमन, साँस के—
मुख-स्पर्श से हिलने आए।
फिर-फिर जाता हूँ भूल-भूल—
रहते तुम मेरे पास-पास ;
अन्तर्य्यामी, हो जान रहे—
विस्मृति का मेरा महाभ्यास ;
पर तुम तो भूल सके न, शूल-दल—
विकल वृन्त पर खिलने आए।
मैं भ्रमण-शील, घूमता रहा,
देखे कितने ही नगर, ग्राम ;
पर—पथ, प्रान्तर, परिजन, पुरजन,
थे सभी अपरिचित रूप, नाम ;
तुम एक सुचिर-सञ्चित मेरे—
प्रिय, मन्द मुस्कुरा मिलने आए।

१३

इतना सुख, मुख खोल न सकता।
अब्द-अब्द से सोच रहा, पर—
एक शब्द भी बोल न सकता।
बेतुक कौतुक मेरा, सृति में—
उसकी अनुसृति करता आया;
इतना पास रहा, कहा गया—
मैं, उसकी ही जीवित-छाया;
पथ-भ्रम क्या? उसके पद-क्रम से—
अलग, तनिक मैं डोल न सकता।
कब तक धरे धरोहर रहता?
दिया उसे अपना अपनापन;
सीमित-गति-विधि, शून्य-मनोरथ,
मेरा गत-गौरव, नीरव मन;
इतना लघु जीवन, कोई भी—
कभी इसे अब तोल न सकता।

१४

चल रहे साँस के तीक्ष्ण तीर।
सोचता काल कब बालक का—
है अमल कमल-कोमल शरीर!
कितना पुनीत वह था अतीत—
छलकर जो चलता बना, ओह!
कितना नीरस यह वर्त्तमान,
कितना भविष्य का मधुर मोह!!
कह कर जाती क्या कानों में—
कलिका के, पतझर की समीर?
तपती जो भूमि तवा-सी है—
तपने दो, मन नभ-वासी है;
तनु-तन भी यदि टूटी कुटीर—
रहने दो, प्राण प्रवासी है।
हो उषा-उदय, ढलने को तो
नक्षत्र कभी से है अधीर!

१५

मैं न चातकी।
दरस - सरस - बिन्दु भी न
माँग हा ! सकी।
शूल, विजन का जीवन,
फूल, तूल - सा तनु तन,
गुन - गुन प्रिय - गुण अगणन,
विकल - मन, थकी।
मिलन, विरह का इङ्गित,
प्रेम, सतत ही शङ्कित,
अब उर पर दुख अङ्कित,
मैं सुखी सखी।

१६

नाविक, अभी सवेरा है;
तरी खोल झट ? कह, वह तट भी
पहचाना क्या तेरा है ?
तै करनी है कितनी दूरी ?
खे लेने की ताक़त पूरी ?
तब ले चल; हाँ, अतल-सलिल का
रहता डर बहुतेरा है ?
सभी ओर दिखता कुहरा ही,
तू बैठा, ज्यों थक कर राही,
सुनता हूँ, उस ओर सभी का
होता रैन - बसेरा है।
नाविक, अभी सवेरा है ?

१७

खो दूँ, अब अपनापन खोदूँ ?
कह दूँ मुकुलित-मुख से—'प्रियतम' !
फिर 'निर्मम' कह रोदूँ ?
नव-जीवन के प्रखर-ज्वार में—
बह जाऊँ रस-नेह-धार में ?
या जग के पङ्किल-उर में
अपने प्राणों को बो दूँ ?
तिरूँ सुरभि बन पवन-पंख पर—
भर दूँ अग-जग के आँगन, घर ?
या अपने उन्मन मन को
प्रिय-सुमन-माल में पो दूँ ?

१८

कुछ न होता ताप जो बनता कभी मुझसे न रोते,
वेदना क्यों ज्ञात होती शून्य-जीवन-भार ढोते ?
बुझ न जाता दीप्त दीपक स्नेह से आशा सँजोते,
मैं सुखी होता सदा यदि तुम न मेरे हाय होते !
भूल जाता मैं कहाँ जब सब बटोही साथ होते,
क्यों फिसलता इस तरह, जग के सँभाले हाथ होते;
जगी जगमग ज्योति होती, स्वर्ण-सन्ध्या-प्रात होते,
क्या न होता ? एक मेरे आज तुम कोई न होते !
आँक दूँ कैसे उसे, सपना नहीं ?
आँसुओं का प्यार क्या, तपना नहीं ?
एक रेगिस्तान या कि हरा-भरा
हृदय तो है, पर अरे अपना नहीं।
प्यार के मेरे पुजारी तो न हो,
कुछ नहीं कहते बने बस मौन हो !
मत कहो, पर यह तुम्हारा आजतक-
रूठना ही है बताता—कौन हो !!

१६

जाग कर सोए ;
किए काम न, आठयाम पड़े-पड़े रोए।
विकल कल के सोच ने हमको किया,
आज के हा ! काज को यों तज दिया,
रह गए वह सब मनोरथ हृदय में गोए।
लोग कहते उच्च अपने आपको,
देखते हम, वह छिपाते पाप जो,
हम कहाँ ?–दीखा न यह, दृग अश्रुजल धोए !
हृदय की मृदु भावनाएँ ही सुना,
प्रणय-जाल निहाल हो-होकर बुना,
फूल के भ्रम प्रगति-पथ में शूल ये बोए।
× × ×
सँभल सकते ही नहीं क्या आज भी ?
गिर पड़ा सिर से मनुजता-ताज भी ?
छीन लेंगे विश्व से जो भूलकर खोए।
जाग कर सोए।

२०

प्रेम दिवस का सपना री;
स्वार्थमयी जगती में किसका
कौन हुआ कब अपना री।
पारस-परस-लालसा ले जीवन को लौह बनाया,
हुआ शृङ्खला-रूप वही अब घन प्रहार जब पाया,
कर मृग-मोह कनक बनने का
तरुण-ताप में तपना री।
चले बाग़ की ओर तोड़ने नए गुलाबी फूल,
धूल पड़ी आँखों में, चुभते उंगुलियों में शूल;
छूते छाती छिदी, बैठ वन में
अब व्यर्थ कलपना री।
गए दिवस वे दूर, चूर जब मद में यह उन्मन मन था,
थी बहार की बात एक, थी टेक एक, क्या जीवन था!
लगती लाज, आज आँसू की
माला ले 'प्रिय' जपना री।

२१

जीवन की छन-छन ममता;
दो प्रभु, इसकी नव-निर्मिति की
मुझमें परम चरम क्षमता।

"रखता हूँ, पलकों पर दुलार
चिर-परिचित करने को विचार
देखता स्वप्न में बार-बार
इसलिए—कि यह जग है असार;
जग स्वप्न, स्वप्न का जग न युक्त?
जग और स्वप्न से कौन मुक्त!

कहता जीवन की नित्य कथा
इसलिए—कि भूलूँ मृत्यु-व्यथा
माना,—जीवन सुखधाम नहीं,
होता पर मरण विराम नहीं;
जीवन जीवन के लिए युक्त,
जीवन जीवन के लिए मुक्त।"

जीवन की छन-छन ममता;
दो प्रभु, इसकी नव निर्मिति की
मुझमें परम चरम क्षमता।

२२

'सूने वन में आया वसन्त',
झुक गई तरुण डाली-डाली !
कोंपल क्या ? पल में फूट पड़ी
अनुराग-सुहागमयी लाली !!
'आया वन में वसने वसन्त',
हँस उठीं कलित कलियाँ-कलियाँ !
भृङ्गावलि की 'व्यङ्ग्य-ध्वनि' से
गुञ्जित हो गईं कुञ्जगलियाँ !!

झकझोर-झोर झाड़ी-झुरमुट—
झोंके आए, कम्पित दिगन्त !
पिक के 'पञ्चम'-स्वर से पुकार
आया कोलाहल-कर वसन्त !!
'करने आया यह शान्ति-भङ्ग,
भरने अनङ्ग के रङ्ग-राग !'
जल उठे सकल द्रुम-दल के दल
लग गई आग सी बाग़-बाग़ !!

पागल वसन्त पग-पग बिखेर
झोली की सब रोली, पराग !
गा-गा भृङ्गों के सङ्ग-सङ्ग
आया अग-जग में जगा फाग !!

मृत पीत-पत्र दुख-शोक उड़े,
नव-पल्लव, यौवन-कण अनन्त !
उजड़े उपवन में एकबार
नव जीवन बन आया वसन्त !!

अलि-कलि, तरु-वल्लरि, अनिल-सुरभि,
रचते मधु-वन में मधुर-रास !
क्यों हो न मधुर ?—गाया वन ने
जीवन यौवन का अनुप्रास !!

सुषमायें हाय ! क्षणिक होतीं
होता उनका ही प्रथम अन्त,
उड़ती फिर धूल यहाँ होगी
होगा विलीन उसमें वसन्त !

मैं भी मरु-वन के तरु-तरु में
सज कनक-कुसुम-किसलय अनन्त,
चल दूँगा तज कर उष्ण-श्वास,
हूँगा सङ्गी, ठहरो वसन्त !

२३

किसे सुनाऊँ करुण-कथा ?
उनके तो रिपु भी जग में हैं
पर मेरा क्या कोई ?
बैठ बबूल-डाल पर वन में
काली कोयल रोई।
जगती जगती के मन में
इच्छा,—कोई गाता रे !
मैं कहती—इस पथ से भी
कोई आता जाता रे !
गाकर जिसे सुना सकती सब
अपने मन की मौन-व्यथा।
मैं न बुझूंगी अमर-दीप की
ज्वाला हूँ, बाला हूँ;
पल भर किसी कण्ठसे लग कर
छिन्न हुई माला हूँ,
मैं जाग्रत-समाज की विधवा
हूँ, प्रसुप्त प्रज्ञा हूँ;
अज्ञा-विज्ञा जैसी भी हूँ,—
चिर-विलुप्त-संज्ञा हूँ !
'बूढ़ी भारत-माता' की माता का
जीवन 'तरुण' वृथा।

२४

झलमल-मुक्तादल-नव-जल-धर—
जलधर - कुन्तल - जाला ,
कज्जल-कल चपला-चल-लोचन ,
गोरोचन—रुचि—भाला ;
विमल—वलाका-'माला', सुरधनु—
अनुरञ्जित वर 'अम्बर',
मदिर-मन्द-मन्थर-गत आगत ,
स्वागत पावस-बाला !

सरित भरित-रस चली समद-पद
जलनिधि-पद बल खाती ,
उमग-उमग मग पर डगमग पग
धर कल-कल-स्वर गाती ;
झुलते खुल-खुल मुकुल कोर पर
हवा मचलती चलती—
लता-परी की सुरभि-भरी
प्यारी सारी सरकाती ।

अङ्ग-अङ्ग तम-तोम-उन्मुखी
सोम-मुखी सखियों के—
सुमन-डोर धर मन-हिँडोर पर
भरते पैंगे, झोंके;
दिङ्मुख मुखर मृदङ्ग-मुरज-रव,
सिहरी हरी वनाली—
सुन-सुन स्वन कङ्कण के रन-रन
रिन-रिन मञ्जीरों के।

चपल पलक, कलि झलक अलक में
रही, छलकती चलतीं,
कुलललना-कुल प्रिय-मिलनाकुल,
व्यजन कमल-दल झलतीं,
उन्मद सी, कविता-पद सी, वंशी—
स्वर सी, सरसी सी,
आपस के, रस के वश, हँस-हँस,
लोल कपोल मसलतीं।

चम्पक-अङ्गुलि—कम्पित—तार
सितार बिसार विलीना,
कभी सजाती कभी बजाती
एक नवीना, वीणा;
मधुर-मुरलिका इधर, उधर
दादुर-सुर, कोमल-केका,
मेघ-मलिन दिन, खेल खेलती
रच-रच सेज प्रवीणा।

बाँह डाल कर नीप-डाल पर,
वसन सँवारे धानी—
बोली एक—"कञ्ज-मुख, खञ्जन-दृग,
तुम शरद सयानी!"
"छिपी छाँह में अपनी—तन्वङ्गी,
बिछुड़ी सङ्गी से,
पिक-स्वर, अधर-प्रवाल, बाल-अलि,
तुम वसन्त की रानी!"

सन-सन पवन-झकोर, मोर के
पंख हिलोरें लेते,
बाल-बकावलि-पाल तरल
जलधर-तरणी सुर खेते;
दोल डोलते, खोल नयन
प्रतिबिम्ब कदम्ब निरखते,
पढ़तीं पाँती, गातीं सखियाँ
ताल वलय चल देते।

"कालिदास के आलि! पास से
फिर 'वह' बादल आया"
अलका की विलुलित-अलका सी
हुलसी पुलकित-काया;
"बहुत बरस पर बरस-बरस रस
भरा धरा पर ऐसा,
सुनो-सुनो सखि! यह सँदेश
नूतन कवि-रवि का लाया।"

२५

गई काटने गेहूँ अम्मा
बाप गया बेगारी में है;
खा अफीम घर के कोने में
बच्चा पड़ा खुमारी में है।

तपी दुपहरी, बाप बोझ लेकर
सिर पर चलता जाता है;
छलक रहा शीतल जल पलकों से,
तलवा तलता जाता है।

'क्या लेकर घर लौटेगा वह'—
अपने मुँह में बोल रहा है;
पकड़ गया बेगारी में है,
है जड़ पर उर डोल रहा है।

बड़े सवेरे ही से मा
शाम की जोहती बाट रही है;
फल पाने की लालच, पर
पौधे की जड़ ही काट रही है।

हँस-हँस हँसिया चला रही थी,
अब क्यों तो कुछ खिन्न हुई है !
बच्चे की सुध की चोटों में
शायद छाती छिन्न हुई है !!

डँस कर साँप पताल में छिपा,
शिशु का रक्त व्योम में फैला ;
डूबा सूरज, हुई शाम,
उग गया एक तारा मटमैला।

आँखों में मोती भर पहुँचा
बाप, धूल के हीरे, माता,
गाँठ चीर कर दाने,
छाती छोड़ क्षीर था छलका जाता।

बाहर हीरे मोती बिखरे,
भीतर लाल लहू का मूँगा !
उनके मुख में हाथ बटाता,
हा ईश्वर ! पर बालक गूँगा !!

२६

जग में अगणित सरणि, सरण री।
प्रस्तर अमर, यहाँ शर केशर,
जीवन अमरण कर न वरण री!
अमल कमल-मुख दिवस ज्योति-यश,
निशि अतन्द्र पी चन्द्र-सुधा-रस;
जलधि जीवनाधार, धार धर—
चलित तरणि, अति ललित तरण री।
विकच-सुमन-धन पा उन्मन तरु,
मरुत श्वास, जीवित सुमेरु, मरु,
मृत्युञ्जय अणु प्रति-तनु में अलि!
अलभ धरणि पर सुलभ धरण री।

२७

पड़ा सूखा काठ ;
ठोकरें खाते-खिलाते पहर जाते आठ ।
"जब खड़ा था"—लोग कहते—"था बड़ा यह पेड़,
घेर कर रहते इसे थे बहुत बकरे भेड़;
एक दिन आँधी अचानक आ गई ऐसी—
तड़तड़ा कर सड़ी जड़ टूटी छड़ी-जैसी;
ढेर है तब से यहां यह—बरस बीते साठ ।"
पड़ा सूखा काठ ।

ठस देकर-काठ कहता—"सुनो लोगो" और,
"यही फल भोगो, चलो या ज़मीं पर कर ग़ौर;
काठ किसको काटता ?—मत चीखते जाओ,
घर अग़र जाना तुम्हें, कुछ सीखते जाओ—
नया करलो याद, भूलो मत पुराना पाठ ।"
पड़ा सूखा काठ ।

२८

चटुल चरण धर मलिन पुलिन पर री,
मधु - सन्ध्या उतरी;
नवल नील द्युति, अमृत-मधुर स्मिति री,
गति शिंजन-सिहरी !
अघन गगन, घन - नखत - मगन - मन,
तरल नीर पर धीर समीरण री,
सरि-उर भर लहरी।
रख अशङ्क रस-कलस अङ्क में,
नमित नयन ऋजु अयन बङ्क में री,
लौटी कृषक - परी।

२९

मिट्टी के हाथी-घोड़े—
माँ देने आती, लड़ पड़ते,
वह लड़के थे थोड़े!

बड़े-बड़े थे उनके बाल,
गोले, गीले, गंदे गाल,

चलते-फिरते, आते-जाते,
बाबू के बेटों के,—
हँस कर सहने के आदी थे
घूँसे, चप्पत, कोड़े।

समझाती माँ छू कर गात
—मेरे बेटो, मानो बात,
'दुनिया में मिट्टी ही के
सब होते हाथी घोड़े'

इसे मान सच, बेवकूफ क्यों
माँ को देते छोड़े?

घोड़े दौड़े सरपट हरपट,
हाथी चले कान कर फटफट,

लड़के जुड़ कर बोले 'अम्मा,
देखो हाथी - घोड़े!'
पानी रोक बन्द आँखों में
वह थी गरदन मोड़े!!

३०

मत कूक कोकिल - बाल री !
मलिन मुख कर कह रहे वह
—'दिन न हास-विलास के यह !'
इधर माधवि आ न
लेकर मृदु मुकुल की माल री !
'हो न सकती बहुत देरी,
बज चली अब क्रान्ति-भेरी !
चुप मधुप, यह मञ्जु गुञ्जन
का न मधुमय काल री।
'जग गया जग, ज्योति जागृति
कर रही निर्मित नवल सृति,
जायगा जल एक पल में
श्याम कुञ्ज तमाल री !
'क्या पुरानी बीन में रत,
—कह रहा अब तरुण भारत
रूढ़ि को कर क्षार भारति !
उतर लेकर ज्वाल री !'

३१

टूटी प्रिय डाल,
गिरा पड़ा नीड़ भूमि पर है बेहाल !
जीर्ण-शीर्ण पंखों में,
गुम्फित तृण-अङ्कों में,
अंडे बिखरे टूटे-फूटे ;
सोए कुछ शब्द मौन,
उलझे ऋतु, अब्द, कौन—
कहे—और जो कुछ रे छूटे ?
कौतुक-वश घेर खड़े मुग्ध ग्वाल-बाल ;
टूटी प्रिय डाल !
पथिक भीड़ लख धाए,
घटना-स्थल पर आए,
एक व्याध का भी मन डोला ;
अंडों पर दृग कर स्थिर,
नीड़ के निकट फिर-फिर,
साथ हाथ मलता वह बोला—
'छीन ले गया असमय, कपटी रे काल !'
टूटी प्रिय डाल !!

३२

मेघ-रन्ध्र में मन्द्र सान्द्र ध्वनि
द्रिम द्रिम द्रिम उन्मद मृदङ्ग की !
भाद्र - समुद्र - रुद्र - रव - रशना
नाच रही कस दस-दिशि-वसना
रिमझिम-रिमझिम रुनझुन-रुनझुन ,
छुनकिट तच्छुम रनरन-रुनरुन ,
छुम-छुम छननन, झननन झुनझुन ,
प्रति-पदचाप काँपता अम्बर ,
इन्द्रचाप - अञ्चल चञ्चलतर ,
ताल-ताल पर उच्छल-उच्छल ,
प्रतिपल छलछल टलमल टलमल ,
कुलकुल-कुलकुल, कलकल कलकल ,
प्रति-पदगति नति जलतरङ्ग की ,
सङ्ग भङ्गियाँ अङ्ग - अङ्ग की !

३२

सजल भी है और प्यासी भी !

देख अहरह नव-नवल यह सृष्टि सारी
जान कर पर देव—'यह केवल तुम्हारी'
दृष्टि मेरी अर्थहीन ममत्व धारी
मुदित भी है कुछ उदासी भी !

वस्तु वह दुर्लभ रही जो चाह की है,
हँस पड़े सब लोग जब-जब आह की है,
यों तिरस्कृत, नित निराशा में मगन मन
सदन में है चिर - प्रवासी भी !

ले मुझे वन में छिपी कंटकित डाली
हार में क्यों गूँथता नागरिक माली ?
अबल डंठल पर मुकुल यह अनिल विलुलित
दलित भी है नव - विकासी भी !

३४

रेणु पिञ्जरित कुञ्चित कुन्तल
रेशम श्याम सघन था,
स्वर्ण सलिल में मन्द मन्द
खिलता अरविन्द वदन था;
अस्फुट रदन, वचन विरचन श्रम
लोल कपोल, विलोचन,
गीत - मधुर मेरा 'अतीत' क्या,
सस्मित बाल मदन था!

लाल - प्रवाल पालने पर
सौरभ की सेज हरी थी,
झुला रही हँस उसे वसन्ती
धीर समीर - परी थी,
मेरा 'शैशव' मुँह में मोती
भरे, लुटाता दृग से,
रजत धार में भार हीन
तिरती लघु स्वर्ण तरी थी!

क्षीर - सिन्धु सा लहराता अग-
जग, विकसित सित शतदल,
भृङ्ग कलङ्क अङ्क में ले
शारद राका शशि झलमल,
'वयस किशोर' समवयस्कों के
संग, विपिन नन्दन से—
बजा वेणु, था मुग्ध देखता—
दुग्ध - धवल निर्मल तल !

शिलाखण्ड पर नभमण्डल से
उतर विराजा वन में,
भृकुटि वंक, शंकाकुल लोचन,
सपुलक कम्पन तन में,
क्षितिज - छोर की ओर, कभी
अपने अभिनव पथ का अथ,
परख रहा मन का परिवर्तन
'वर्तमान' छन छन में !

३५

—तो रुक न सकोगे एक रात ?
बस 'नहीं, नहीं'—क्या इसे छोड़
कुछ भी आती ही नहीं बात ?
'हाँ' कह कर देखो ज़रा आज
फिर 'नहीं-नहीं' तुम कहना कल,
एक ही बार तुमसे 'हाँ' कह-
लाने को इतनी हुई विकल !
देखो तो, 'हाँ' सुनने को यह
कब से निश्चल है मलयवात !
—तो रुक न सकोगे एक रात ?

अपनी ही कही हुई बातें
वेसुध, तुम जाते भूल - भूल,
तुमने न कहा था—"अल्प
बोलना फूल, बहुत बकना त्रिशूल ?"
बस एक वर्ण ही बोलो—'हाँ'
करते दो अक्षर—'नहीं' घात !
—तो रुक न सकोगे एक रात ?

३६

एक चुम्बन का बँधा मन—
तोड़ने में बीतता है हाय जग का
एक ही छन !

एक झिटके से हुई थी
विलग तरु से डाल,

कर चुकी थी भस्म वह तन
एक दृग की ज्वाल ;
एक ही थी बात—'क्यों हों
एक, दो-दो गात ?'
एक बार समझ सकी वह
भी न, वह थी बाल ;
एक कैसे दूसरा होगा,
मिटा जब एक जीवन !

३७

साधों ने बाँधे नव बन्धन,
मुझे मुक्ति प्यारी न, शुक्ति मैं,
गुप्त अभी मेरे मुक्ता - गण !
मुद्रित - मुख बालारुण - उन्मुख
हृदय-पद्म चल सजल-सद्म-सुख,
मत असङ्ग हो भृङ्ग ! अभी सब
जन्मजात अज्ञात सुरभि - धन !
स्नेह वयस की शीतल छाया
अलस कर रही कोमल काया,
पड़ने तो दो प्रथम ज्योति
क्यों अभी ढूँढ़ते सफल स्वेद-कण !

३८

सिन्धु मिलन की चाह न उतनी,
मुझको तो बहते जाना है!
दो पुलिनों से बँधकर भी
कितनी स्वतन्त्र है जीवन-धारा!
रोक रखेगी मुझको कबतक
पत्थर-चट्टानों की कारा?
अपनी तुङ्ग-तरङ्गों ही का
रहता इतना बड़ा भरोसा;
लौट-लौट कर मैं न देखता,
मुझको तो बहते जाना है!
राह बनाकर बढ़ना पड़ता,
इसीलिए रुक-रुक चलता हूँ,
झुकना तो मेरा स्वभाव हाँ,
कुछ चट्टानों को खलता हूँ,
—'आसपास में औरों के
मेरी भी एक धार लहराए'
—यह विचारने की कब फुर्सत
मुझको तो बहते जाना है!

३१

इस पथ पर स्वर्णिम रथ रेखा,
आज प्रणय की मधुर मूर्त्ति को
मैंने दृग भर-भर कर देखा !
पाने को प्रकाश चिर शीतल
असफल दीपक का नित जलना
कितनी निर्मम, तम-घन
मरु-जग में, जीवन मरीचिका छलना !
क्या करता ले ज्योति ?
दिखाया अपना श्रम-सञ्चित
तम-लेखा !

४०

यह मिलन-निशा न, प्रभात री !
मानस के चिर-निद्रित विकसे
प्रिय प्रेम हेम-जलजात री !
लाली ले पुलकित कल कपोल,
लोचन खग अस्फुट रहे बोल,
अलि ! अलक तिमिर भय-श्याम लोल,
उतरी मधु-उषा बिम्ब-अधरों पर,
मधुर स्मिति अवदात री ।
सुख स्वेद बिन्दु, तारका मलिन,
हिय-हीरक-हार, किरण अमलिन,
कलहंस जगे नूपुर रिन-रिन,
डोली परिमल निःश्वास बनी
मृदु मलय निलय की वात री !

४१

उड़ प्रात विहग था गाता
—क्या निविड़ नीड़ से नाता !
—सुन, हुआ
—'घर ओर [illegible] मन मोहा' !
यह कौन उसे समझाता—
क्या निविड़ नीड़ से नाता !
जब थका, दिखी तरु छाया,
तब बोल उठा—'सब माया' !
था रुक-रुक चलता जाता
—क्या निविड़ नीड़ से नाता !
आई सन्ध्या, गृह आया,
दृग में छल छल जल छाया,
था वह खग गाता आता
—'किसको न नीड़ से नाता' !

४२

मेरा भविष्य से क्या परिचय,
विश्वास-पात्र तो वर्तमान !
यों उससे भी मिलकर चलता, पर वर्तमान है रोक रहा,
यह उससे मिलने जाने पर जाने क्यों करता शोक महा !
सपनों को साथ लिए जाता,
सब से बढ़कर हैं अपने ये;
सच कहता हूँ—झूठे जग में
सब से सच्चे हैं सपने ये;
अन्तिम छन तक के साथी से
बढ़कर है कौन भला महान ?
लो, चला, क्षमा अब कर देना मैंने जितने अपराध किए;
क्या कहूँ—हमेशा रहा विकल, आया था अगणित साध लिए !
मन था रथ पर फिरता नभ में,
तन पथ पर पछताता सा था;
प्राणों ने पीली थी मदिरा,
मैं बेसुध मदमाता सा था,
अपने दुख-सुख कैसे क़हता—
तुम अभी सभी तो थे अजान !

४३

शून्य—मेरे गगन मन में
स्मृति तुम्हारी चाँदनी सी !
दिवस गणना की लकीरें
बन गईं तसवीर सी तव
वह—प्रथम रेखा चुभी है
पर निशित शित तीर सी नव
अह ! विरह को छोड़, कौन—
अनित्य जग में नित्य होता ?
हाँ, तुम्हारी निठुरता भी एक ,
मृदुल मृणालिनी सी !
उपल हो ? आओ, पुजोगे ,
प्रणय मन्दिर रिक्त मेरा ,
अनल हो ? आओ न ! आहुति
को हृदय अभिषिक्त मेरा !
अश्रु - गङ्गा - स्नात, प्राणों के
प्रदीप जला निशा भर,
अर्चना - आतुर जगी पीड़ा
अचल आराधनी सी !

४४

मुझको मिल जाना प्यार, कहीं !
फैला तरङ्ग-कर नित्य सिन्धु
आता तट तक, कहता पुकार—
'लो चलो, स्वयं आया लेने,
देखो, कितना यह जग असार !'
पर मुझ पर जग-आभार-भार,
जाऊँगा मैं उस पार नहीं !
मन्थर-पद नभ-पथ से आती
उर - तार - हार ज्योत्स्ना-वसना,
हो मेरे आँसू में बिम्बित,
कहती—'मुझसे सीखो हँसना !'
जो प्यार विश्व का रोदनमय,
लूँगा मैं हँसी उधार नहीं !
कर्कश कितना वायस विराव,
मधु मधुर पिकी की तान कौन !
सब मुझे समान सुखद लगते,
हो मुखर गान या प्रखर मौन !
कब कहता मैं आओ महान !
सुकुमार सुमन बन, खार नहीं !

४५

लक्ष्य पथ का अन्त रे!
धूम सा कुहरा भरा, अब
शेष शून्य दिगन्त रे!
पलक पंख सशङ्क फड़का
उड़ गए सुख स्वप्न सारे,
आसमाँ की आस तज
भू पर पड़े मेरे सितारे,
खो गया पतझार ही में
मधुर बाल वसन्त रे!
अब न होगी रजत राका
यह अमा की यामिनी फिर?
मेघ गरजेंगे गिरा किसके
हृदय पर दामिनी फिर?
एक हूँगा मैं न, यों
जग है अनादि, अनन्त रे!

४८

काहे की यह आना कानी
उठा बाँसुरी, वही सुना दे
अपनी तान पुरानी !
कभी विरह की रात गई भी ?
कौन नेह की बात नई भी ?
प्रिय कैसे वह जो न हो सका
निर्मम, निठुर, गुमानी !
तेरे बड़े बड़े सब बाने,
बड़ी युक्तियाँ, बड़े बहाने,
किन्तु मिलन - छन के छुटपन की
रीत यहाँ पहचानी !

४७

मेरी साँसों को रूप मिले
कोयल, डाली से बोल तनिक !
मेरे भावों को राग मिले, मत
सकुच, अरी मुँह खोल तनिक !
श्यामा आती है, ताँबे की ले युगल कलसियाँ औ' डोरी,
मैं यहाँ कुएँ पर बैठ सकूँगा अब न अधिक, चोरी - चोरी
छुपता - छुपता जाऊँगा उस कोने तक, वह भी गाती है,
केवल मुझको ही देख मौन हो जाती है, शरमाती है !
फिर वह तो प्याले भर देगी
पहले तू ही मधु घोल तनिक !
लो लगी पेड़ गिनने भौंहें औ' ललित उँगलियाँ नचा-नचा,
मुश्किल है, उन चंचल आँखों से रखना खुद को और बचा !
पानी भरने की जिकर नहीं, बूढ़ी अम्मा की फिकर नहीं,
कोंपल से कँपते होठों से कैसी मुसकानें निखर रहीं !
मैं कितना हलका लगता हूँ—
मेरे प्राणों को तोल तनिक !

४८

जिन्होंने हो तुझे देखा
नयन वे और होते हैं !
अजी ! गुलशन जहाँ सारा
सभी यों फूल तेरे हैं
लगे पर जो गले तेरे
सुमन वे और होते हैं !
मिला मुझको नहीं जब
सत्य भी मेरे लिए सपना
निठुर है, जो तुझे लाएँ
सपन वे और होते हैं !
मरण भी दिव्य जीवन के
लिए आदर्श, पर तेरे—
लिए जिनके सकल जीवन
मरण, वे और होते हैं !
गहन वन, गर्त्त, खाईं देख
चलना है मुनासिब, पर—
तुझे ही देखते चलते
मगन वे और होते हैं !

४६

प्रगति दृग की घेर
वह प्रतनु तारक तभी से
है रहा क्या हेर ?
प्रिय वसन्त बसा हुआ
मेरे गहन मन में,
ग्रीष्म की क्या कल्पना ?
कटुता न जीवन में,
मिट चुकूँगा जब, कहेगा
गन्धवह बहकर,
बाग़ में जग के चलूँगा
सरस सुरभि बिखेर !
रश्मियों से मन बँधेगा ?
छोड़ दे पथ चन्द्र !
अमरता की प्यास क्या ?
बस मैं रहूँ निस्तन्द्र,
गगन में उड़ना न उन्नति,
शान्ति क्या जड़ता ?
पूर्ण भू तज शून्य तक
आते लगेगी देर !

५०

सूने, उजाड़ में बाग़ लगाने आया हूँ पहले !
ये आज अभी नन्हें पौदे,
कल फैलाएँगे विहँस बाँह;
कर - किसलय हिला बुलाएँगे,
आएँगे राही देख छाँह;
पोंछ कर पसीने की बूँदें
बैठेंगे, फिर फल फूल निरख—
आँखें क्या ? हृदय जुड़ाएँगे
कुछ कुतर-कुतर औ' कुछ चख-चख;
इतने में मंजरियों में छुप
कुऊ - कुऊ कोयल बोले,
उनके ही क्या ? पत्थर के भी
तन नहीं, प्राण पुलके, डोले !
पल्लव - पल्लव में राग जगाने आया हूँ पहले !

२

रूप और अरूप

१९३८–३९ के

ये

नवीन प्रयत्न

नीलिमा

१

आँखें ही तो हैं भरी हुई,
सूने प्राणों में आ जा रे !
गिरियों से घिरा हुआ, निर्जन,
मेरा निष्फल, जड़, जीवन वन,
इसमें मैं नित रोता रहता,
तू एक बार तो गा जा रे !
उजड़ा है, भरा अँधेरा है,
फिर भी जब यह घर तेरा है,
स्नेह का—आह ! मिट्टी का ही
दीपक तो एक जला जा रे !

२

तू मिले, बेच दूँ प्राण भी !
सूखी मिट्टी पर छोड़ चलूँ
जीवन के गीले गान भी !
मेरे खजूर के झुरमुट से
पूनों का शशि है झाँक रहा,
सोई, तन्वङ्गी छाया की
छवि उज्ज्वल उर में आँक रहा,
अपनी पलकों में झलक देख लूँ
एक बार जो-यों तेरी--
ठुकरा दूँ, कह कर महाशाप
साँसों का यह वरदान भी !
काँपूँ पीपल के पातों में, झुलसूँ अग जग में आग भरे,
सर, सरि भर-भर रोऊँ, खिल खिल विहँसूँ
फूलों से बाग भरे !
निष्ठुर उर में भी हूक उठे,
बेसुध कोयल सा कूक चलूँ,
पागल हो जाऊँ—अरे भुला बैठूँ—'तू मैं' का ज्ञान भी !

३

कैसे बंद रखूँ चल लोचन,
प्रिय अति सुन्दर है !
कैसे विकल कलस में भर लूँ
सकल समुंदर है !
जान विजन छन आता,
सजल नयन, सखि, निरख न पाती,
तब तक निर्दय जाता !!
मर्मर कर उठते तरु - पल्लव
सुन उसका रव है !
बदल - बदल वह रूप - रंग
चलता नित नव-नव है !
चरण-चाप पहचानी,
इसीलिए उसकी, अब तक की,
गति-आगति सब जानी !!
कह, कैसे अपना घर भर लूँ,
वह सब का धन है !
कैसे रोक रखूँ, जब सब का
वह प्रिय, जीवन है !
देता रहता फेरा,
कहाँ-कहाँ किस-किसने उसकी
राह आह भर हेरी !!

४

बहुत पास मैं रहा तुम्हारे
इसीलिए पहचान सके ना !
बहुत प्रमाण दिए ममता के
इसीलिए तुम मान सके ना !!
चलता मेरा अकपट रटना
नित शत शत बतलाई घटना
कौन मर्म की रही कहानी
—इसीलिए तुम जान सके ना !
समझ-समझ कर आत्म-अधीना
बहुत सजाई अपनी वीणा,
निर्मम ! तुम्हें मोहने वाले
इसीलिए बज गान सके ना !
खोल रखे सब द्वार निरन्तर,
जगा रहा प्रतिपल चल अन्तर,
लाने की हठ की, मेरे घर
इसीलिए प्रिय आ न सके,—ना ?

५

गीला ही रहता आँचल,
यह बादल के दिन री !
सुमन-भार-नत तरु, वल्लरि, वन,
सौरभ-भार अधीर समीरण,
प्राण-भार बेसुध तनु तन, मन,
छन छन छिन-छिन री !
घिर-घिर तिमिर भरे दिशि-अन्तर,
मिलित आज अलि, अवनी-अम्बर,
साँस ले रही एक अकेली
मैं ही गिन-गिन री !
उथला मानस, ढला, बहा सब,
अपना प्रिय भी कहाँ रहा तब ?
नीरवता में गुँजती अब
श्लथ-कङ्कण-किन-किन री !

६

मेरी शिथिल, मन्द गति ही क्यों,
गिरि, वन, सिन्धु-धार भी देखो !
पीले पत्रों में, वसन्त के लाल प्रवालों का दल सोता,
काले, जड़ पाषाणों में रहता उज्ज्वल जीवन का सोता,
आँखों का खारा जल ही क्यों,
उर का मधुर प्यार भी देखो !
बरसा कर अपना सारा रस निःस्व होगई नीरद-माला,
वन-वन रँग, रुचि, मधु, सौरभ भर
कलियों ने खुद को खो डाला;
ऊपर सूनी डाली ही क्यों,
नीचे हरसिँगार भी देखो !
नभ के शून्य नयन भर आएँ तो अवनी का ताप भला रे,
शीतल हो जो हृदय किसी का तो कोई ले मुझे जला रे,
सोने का तपना ही क्यों,
तुम अपना कण्ठहार भी देखो !

७

हे देव, तुम्हारा 'निठुर' नाम !
किस कृपण कोष से यह सुवर्ण
पा गया निःस्व यह विश्व-धाम !
नित प्रति सुन्दर-सुन्दर सपने
बनकर तुम आँखों में आते,
आँसू का रूप धरे अरूप हे,
फिर मुझको छल कर जाते,
कोई उसाँस ले, मिट जाए,
है तुम्हें परीक्षा मात्र काम !
हे देव, तुम्हारा 'निठुर' नाम !
चीथड़े हुए उर के कंथे में
लगी गाँठ सी एक वस्तु,
(कुछ कोहनूर के विक्रय की
तो बात नहीं हो रही, अस्तु)
क्या मोल अरे ! इन प्राणों का
कुछ भी दे दो कौड़ी, छदाम !
हे देव, तुम्हारा 'निठुर' नाम !

८

सुनकर जिसे हँसे तुम,
बतलाओ—क्या मुझे वही कहना था ?
अन्तर्यामी ! यह असमय
उपहास, व्यङ्ग्य मुझको सहना था ?
पागल सी की प्रणय याचना
चारों ओर निहार विरलता
कहाँ सभ्यता सीखी इसने ?
—मेरी अवगुण्ठिता सरलता !
जो फैला सपनों का मैला आँचल
माँगे तनिक सचाई,
उसे भीख भी दे न सके तो
अजी, तनिक चुप ही रहना था !
तुम्हें नहीं मालूम कि कितनी
निष्ठुर होती प्रेम परीक्षा,
कैसे मुँहफट सट-सट करते
दीवानों की विकट समीक्षा !
क्या अभाव था इन भावों में
काँप रही थी जिससे भाषा.
मेरी अश्रुधार को पत्थर ही
के आस पास बहना था !

१

मैं स्वर हूँ, तू है शब्दकार !
सूखे आँसू का एक दाग़ मैं
तू सुन्दर सुकुमार प्यार !
तेरे वियोग से, बिछुड़न से,
है बना विश्व यह दृश्यमान,
इसलिए तो यहाँ तड़प-टीस-
उच्छ्वास-विकल हैं सकल-प्राण !
मैं कटु अनुभव विरही जगका,
तू मधुर मिलन कल्पनाधार !
साँसों से कसे हुए उर में
है सिसक रही मुक्ति की चाह,
जीवन में वह छन कब आया,
जिसमें न रहा कुछ ओह, आह !
क्या कहूँ—न हूँ मैं तो कुछ भी,
पर तू भी निर्गुण, निराकार !

१०

अपना अपनापन भी हो !
तू सौरभ सा बसा रहे पर
मेरा सुमन सुमन भी हो !
चाहूँगा क्यों बिना दुखों के
मैं छन भर भी सुख पाना,
नित नूतन रखने को तेरा
मिलन, विरह-बिछुड़न भी हो !
बड़ी साध, उजड़ी कुटिया में
तुझे बुलाऊँ, बिठलाऊँ,
तेरे चरणों पर अर्पण को
मेरा निज जीवन भी हो !

११

महारण्य में मुझे छोड़ते
यह भी याद न आया
—'जहाँ-जहाँ आलोक, रहेगी
वहीं - वहीं पर छाया' ?
कब से परख रहा तू मुझको,
पर न अभी तक जाना;
मैं इतना रहस्यमय ? निजको
तभी नहीं पहचाना !
तू निर्मल, मेरा मन तो
तुझमें ही तुरत समाया !
इधर - उधर देखते - देखते साथ छोड़ देता है,
थक कर मेरे रुकते - रुकते हाथ छोड़ देता है,
कहाँ चाहता तू छिपना ?
तेरी प्रकाश ही काया !
रूप, गन्ध, रस, परस सभी से तो पहले बहलाया,
बतला, किसका मोह दिखाएगी अब तेरी माया ?
सब कुछ खोकर ही तो निष्ठुर,
मैंने तुझको पाया !
—महारण्य में मुझे छोड़ते यह भी०

१२

मेरा जीवन - घट भरा हुआ,
किस लिए सिन्धु-तट जाऊँ मैं ?
छुप कर बैठा वह प्राणों के—
है तार - तार झनकार रहा,
कितना कोमल स्वर ! सुनो,
छेड़ता तानें बारंबार अहा !
किसलिए, कहो, फिर आज साज कर
टूटी बीन बजाऊँ मैं ?
जब यह घर - आँगन सूना था,
तब सब से कहता रहता था;
आँसू में बहता रहता था,
आहों में दहता रहता था;
अब आज सजा मेरा मन्दिर,
फिर क्यों कर इसे छिपाऊँ मैं ?
मेरा जीवन - घट भरा हुआ,
किसलिए सिन्धु - तट जाऊँ मैं ?

१३

तेरी उदार करुणा प्रकटित
करता हूँ, निष्ठुर प्यार नहीं !
—तो कैसे छिपा रखे कोई,
तू जादू सर चढ़कर बोले,
पागल सा जब पुकार उठता,
कहता हूँ,—मिटा खुमार नहीं !
जब से तू ने दी मेट कामना
मेरी, पार उतरने की,
दिखती है स्वर्णतरी पहले,
आँसू का पारावार नहीं !
कोयल न कूकती इस वन में,
प्यारा वसन्त है रूठ गया,
पर अचरज तो यह अजी ! कभी
आता है अब पतझार नहीं !
मैं जिन्हें देखता रहा आज तक
वे सब जाने कहाँ छिपे,
अब तू दिखला सो मैं देखूँ
इन आँखों पर इतबार नहीं !

१४

चित नित चञ्चल री!
प्राण न मान बचा सकते
खुल पुलकित अञ्चल री!
कुहुक-कुहुक कोयल प्रतिपल
भर सिहर रही रग-रग में,
भीगा-भीगा राग प्रकट
होता डगमग पग-पग में;
देख रेख सखि, पथ में रथ की
दृग-युग छल-छल री!
अपने लघु जीवन-वन का
पहचाना कोना-कोना,
जाने कैसे छुपा रहा, यह
कैसा टोना-मोना!
आज शिला में मिला चपल जल
करता कल-कल री!

१५

मुकुल - मुख, फूलो ना, फूलो ना !
देखी रेख, सुनी धुनि पग की,
भूलो ना, भूलो ना !
छुटपन के छोटे छन रीते,
—आँख मिचौनी के दिन बीते,
परिछाईं सी पास खड़ी मैं
छू लो ना, छू लो ना !
रिमझिम फुहियाँ लोचन घन की,
—जीवन में बहार सावन की,
प्यार - चपल उर के झूले पर
झूलो ना, झूलो ना !

१६

सुख की कह एक कहानी !
—पूछ रही पग पग पर पगली
मीरा 'दरद दिवानी' !
कहने लगीं मछलियाँ, जो
तट पर छटपट करती थीं,
—'बड़ी सुखद री ! पीर विरह की,
तूने हाय न जानी' ?
प्रेम प्रदीप देख कर, उसके
सम्मुख जाते - जाते
बोले शलभ—'मिलन-सुख का
मिलता न कहीं भी सानी' !
कहा पपीहे ने—'सुख तो
पी कहाँ, पी कहाँ रटना'
सुख की रँगरलियाँ सुन कर
भर गया दृगों में पानी।
बोला बालक एक विहँस कर
—'बतला, क्यों यों रोती ?
बिछुड़ गए तेरे मनमोहन,
तू ही राधा - रानी ?
सुख की फिर कौन कहानी' ?

१७

छीने कौन, गुदड़ियों में
किसने तुमको पहचाना ?
आह, तभी जीवन-धन, मैंने
लिया फक़ीरी बाना !
किसी की हँसी से तो कैसे
नीला नभ उजला हो !
भूल गया मैं बन्धु ! नाम
ले-लेकर नेह जताना !
तुम्हें देख कुछ और देखने
की न रही अभिलाषा,
तभी अँधेरी कुटिया में भी
पड़ा न दीप जलाना !
कोई ठुकराए, रौंदे,
मिट्टी में मुझे मिलाए,
हृदय चीर झटपट मत
प्यारे प्राण ! प्रकट हो जाना !

१८

जहाँ छोड़ कर मुझे गए थे
वहीं अभी तक बैठा हूँ,
तुम तो बहुत बदल कर आए,
मेरा परिचय नया नहीं!
लेते जो पहचान अचानक,
मैं भी भ्रम में पड़ता, पर
तुम निश्चय मेरे प्रिय, तुम में
क्योंकि तनिक भी दया नहीं!
बड़ी शीघ्रता में दिखते हो,
शायद तुरत कहीं जाना!
मेरी चाह? आह झटपट
यह कहने देती हया नहीं!
बाट बताऊँ किधर हाट की?
भूल गए तुम आ जा कर,
मुझे न कुछ लेना देना था
मैं तो अब तक गया नहीं!

१६

अब यह सब सहना ही होगा !
पार उतारे या कि डुबोए,
सुरसरि में बहना ही होगा !
रुकने पर था स्वर्ग मिल रहा,
बढ़ने की मेरी अभिलाषा;
यह न राह पूरी होने की,
मिट सकने की यह न पिपासा !
अन्ध-कूप हो या प्रकाश - गृह,
इस जग में रहना ही होगा !
मेरा स्वागत कौन करे, जब-
इधर भूलकर हूँ मैं आया !
मैं तो केवल सत्य, किन्तु
हैं लोग चाहते मिथ्या, माया !
इसी लिए था मौन, पूछने पर
कुछ तो कहना ही होगा !

२०

बजा छिन्न तार,
सुनी जो न, मधुर वही वीणा-झङ्कार !
मरु का मग, पग-पग पर लगती रे प्यास ;
अञ्जलि भर मिला नीर—जो, वह तो खार !
पिया जो न, वही बिन्दु क्षीर-सिन्धु-धार !
सुनी जो न, मधुर वही वीणा-झङ्कार !
पतझर वह, आया करता जो वन में ;
लगा गले से जो, वह विजय नहीं,—हार !
बही जो न, बस वही वसन्त की बयार !
सुनी जो न, मधुर वही वीणा-झङ्कार !
देखा जो कुछ, वह तो केवल सपना ;
पाया जो, वह सब बेकार, महाभार !
मिला जो न, हाय ! वही प्यार—जगत-सार !
सुनी जो न, मधुर वही वीणा-झङ्कार !

२१

क्या बताऊँ—आज तो मैं
धूल हूँ उस राह की,
पैर रखने की किसी ने भी
न जिस पर चाह की!
लहलहाता बाग भी है
फूल भी लहरा रहे,
कौन जाने क्यों पपीहे ने
यहाँ पर आह की!
दिल बहलता है, किसी की
तृप्त आँखें हो रहीं,
कुछ छिपी सी है कहानी
इस हृदय-गृहदाह की!
छिन गया मेरा भविष्यत,
वर्तमान तिमिर-घिरा,
यादगारी ही बची
गुज़रे हुए दिन, माह की!
हाथ पकड़ूँ किस तरह मैं
साथ तेरे बढ़ चलूँ,
खींचतीं इस ओर गाँठें
बेशुमार गुनाह की!

२२

तू ही खेल रहा जीवन से
फिर काहे की रार अरे
अपने इस उन्मन मन से!
तेरी चपल उँगलियों से
कम्पित साँसों के तार,
मेरे अखिल-निखिल कलरव का
यही मर्म रे सार!
तेरे ही तो गीत निखरते
मेरे स्वर-कम्पन से!
जग नगपति का शिखर निरखता,
पर तू निस्तल जीवन,
जग रोता दुख कह, श्रेयस सुख
वह, तव दान चिरन्तन,
तू सब कुछ खुल कर कहता,
पूछूँ रहस्य क्या वन से!

२३

कैसे लौट चलूँ—पद - पद पर प्रिय - पद - रेखा री,
आज मिलें शायद, अदृष्ट को किसने देखा री!
अलि, अब निकल पड़ी हूँ,
क्या चिन्ता वे रुकें या नहीं, मैं भी तो न खड़ी हूँ!
आवश्यक कर्तव्य मार्ग में बढ़ते चलना री,
आशा, स्नेह रहे, दीपक को केवल जलना री!
बतला, और अपर क्या,
सब दिना सूना विपिन ही भला,
प्रिय - विहीन री घर क्या!
पहुँचूँगी जब, जहाँ न कोई मेरा तेरा री,
एकाकार दिशाएँ सब, घनघोर अँधेरा री!
थक कर गिर जाऊँगी,
निश्चय ही उस छन अपने को
प्रिय पद पर पाउँगी!

२४

—दूर देश है जाना,
जहाँ न कोई भी मेरा
अपना जाना-पहचाना !
एक 'द्वन्द्व' चल रहा साथ,
बहुतों को ले क्या करना ?
हँसना 'सूनी' राह देख
या आह गगन लख भरना !
चलते ही रहना या रुक-रुक
पग-पग पर पछताना !
—दूर देश है जाना,
तपना तनिक धूप में,
पलभर छाँह देख सो जाना;
धीरे-धीरे 'धूप-छाँह' से
अजी, पार हो जाना !
फिर आने की कौन बताए,
आज अभी तो जाना !
—दूर देश है जाना !

२५

'जीना भी एक कला है'
इसे बिना जाने ही मानव बनने
कौन चला है!
फिसलें नहीं, चलें चट्टानों पर,
इतनी मनमानी!
आँख मूँद तोड़ें गुलाब, कुछ चुभे न,
क्या नादानी!
अजी, शिखर पर जो चढ़ना है
तो कुछ संकट झेलो,
चुभने दो दो-चार ख़ार,
जी भर गुलाब फिर लेलो!
तनिक रुको, क्यों हो हताश,
दुनिया क्या भला बला है?
'जीना भी एक कला है!'
कितनी साधें हों पूरी,
तुम रोज़ बढ़ाते जाते,
कौन तुम्हारी बात बने,
तुम बातें बहुत बनाते,
माना, प्रथम तुम्हीं आए थे,
पर इसके क्या मानी?

उतने तो घट सिर्फ़ तुम्हारे,
जितना नद में पानी !
और कई प्यासे, इनका भी
सूखा हुआ गला है !
'जीना भी एक कला है।'
बहुत ज़ोर से बोले हो,
स्वर इसीलिए धीमा है,
घबराओ मत, उन्नति की भी
बँधी हुई सीमा है !
बर्फ़ ही सही, बहुत न पीना,
इसकी गर्म प्रकृति है,
दुख-सुख, आग-बर्फ़ दोनों से
बनी हुई संसृति है,
तपन-ताप से नहीं, तुहिन से
कोमल कमल जला है !
जीना भी एक कला है।

२६

चाँदनी तुम, प्रखरतर हो ग्रीष्म-ज्वाला भी?
बिन्दु हो, कैसे किनारा पा गए तुम?
सिन्धु हो, मरु में भला क्यों आ गए तुम?
बीन कहती—प्रिय, इमन-कल्याण हो तुम,
अश्रुप्लुत यह पुलक कहता प्राण हो तुम!
विधुर-उर में तो चुभे बन तीक्ष्ण काँटे,
कण्ठ में तुम सरस मृदुल शिरीष माला भी?
विकल कर में तुम छलकते अमृत-प्याले,
रो रहा, कैसे तुम्हें साक़ी सँभाले!
अमर क्या, पीकर अगर मर जाय कोई,
क्या कहूँ, क्या चाहता तब हाय कोई!
प्रेम—निष्ठुर प्रेम, इतना तो बता दो,
मधु-मधुर तुम हो हलाहल तिक्त-हाला भी?

२७

मरण प्रेम बन आया !
ज्वाला-दग्ध गगन जीवन में
सावन घन बन छाया !
मैं थी अबतक आत्म-विलीना,
झंकृत हुई अचानक वीणा,
छिड़ा एक अश्रुत स्वर,
जाने किसने कैसे गाया !
काँप उठा तन थर-थर थर-थर,
नव-पल्लव से निकला मर्मर,
प्रथम आगमन में ही पागल
जाने क्या-क्या लाया !
अधिक अधीर, चपल थे लोचन,
दिया इन्हें उज्ज्वल, नव जलकण,
चिर-विरही सूने प्राणों में
चुपके स्वयं समाया !
मरण प्रेम बन आया !

२८

कहना था जो, वह कह न सका!
सुख में सोया, दुख में रोया,
सुख-दुख दोनों में सब खोया,
अपने में पाया जिसे, उसे
सपने में भी तो गह न सका!
बुलबुल की तान निराली थी,
गाती कोयल मतवाली थी,
मिलने को मुझे मिला मधुवन,
पर जाने क्यों मैं रह न सका
थक गईं भुजाएँ, श्रान्त हुईं,
मन की आँखें दिग्भ्रान्त हुईं,
जीवन की उलटी धारा में
पर—मर कर भी मैं बह न सका!

२६

मानव भी देव हुआ करते,
मर-मर कर जो कि जिया करते,
यह प्रथम-प्रथम हमने जाना,
पत्थर भी आह किया करते !

कुछ भी न असम्भव इस जग में
अचला भी जब कि चला करती,
उठ-उठ कर धुआँ कहा करता—
पानी में आग जला करती,
जिनका प्रिय दरस-परस पाने को
कुसुम मृदुल उर बिंधवाते,
तीखे-तीखे काँटे उनका ही
दामन थाम लिया करते !

तब डाल दिया गाढ़ा पर्दा
नभ की अलसाई आँखों पर—
तब तिमिर भार भी लाद दिया
सन्ध्या की हल्की पाँखों पर—

जब चाह रहे दुख को गोना,
जब चाह रहे खुद को खोना,
चीथड़े हुए अपने उर को
हम तम में जब कि सिया करते !

दिन सब दिन जलता रहता है,
रजनी रजनी भर है रोती,
जग चाह रहा जलता सोना,
जग माँग रहा निर्मल मोती,
रोए न कलेजा फाड़ कहो कैसे
फिर काला बादल ही ?
तुमने न सुना, कुछ तृषित यहाँ
हँस-हँस कर अश्रु पिया करते !

कर सकें खाक जिससे खुद को,
अब इतनी कहाँ आग पाएँ ?
बेसुध करदे चंचल मन को,
अब ऐसा कौन राग गाएँ ?
आए दुनिया की हाट, करें क्या
लेन-देन की बात बहुत,
लेते तो कुछ आँसू लेते,
देते तो प्राण दिया करते !

३०

रहो, तुम्हारा प्यार रहे !
फिर दुख न तनिक, संसार अगर
मेरे हित कारागार रहे !
तुम लो सनेह की सुखद साँस,
मत मानी मलयानिल डोले,
कूको तुम मेरे प्राणों में,
मत मतवाली कोयल बोले,
तुम मन्द-मन्द मुसकाओ ना,
मैं हरा भरा रह लहराऊँ,
मेरे जीवन के उपवन में
चाहे सब दिन पतझार रहे !
मैं तुम्हें छोड़ किस ओर भला
कब तक यों चलता जाऊँगा ?
छन-छन झोंके खाकर प्रदीप सा
बुझ - बुझ जलता जाऊँगा ?

जो राह तुम्हारे घर की यह
तो मुझे इसी से जाना है,
क्या सोच आह, चाहे इस पर
फिर फूल रहे या ख़ार रहे।
पड़ भँवर बीच नैया मेरी
डग-मग २ है डोल रही,
लहरा-लहरा आतीं लहरें
विकराल, विकट मुख खोल रहीं,
पतवार नहीं, परवा न मुझे,
उसपार पहुँच कर क्या करना?
मेरे माझी तुम पास रहो,
मिटने को तो मझधार रहे!

३१

कैसे तब मैं हँसता रहता ?
काँटों से छिदा हुआ था तन,
केवल मुँह पर थी रंगीनी,
कँपते गुलाब को तोड़ चला
जब मिली महक भीनी-भीनी,
कैसे तब मैं हँसता रहता ?
थी जलन बहुत या प्यास ? अरे
उसका दिल किसने पहचाना ?
जलते प्रदीप से लिपट जुड़ाने को
जब आया परवाना,
कैसे तब मैं हँसता रहता ?
जीवन के जिस निर्मम रहस्य को
मैंने नभ में था खोया,
फिर वही लौट कर प्राणों में,
जब मेरे गानों में रोया,
कैसे तब मैं हँसता रहता ?
केवल जिसको अपनाने को
सब कुछ तजकर भी रहा मौन,
मेरा वह नित-नित का परिचित
बोला जब—तुम हो कहो कौन ?
कैसे तब मैं हँसता रहता ?

३२

कितना निठुर उपहास !
जो अजाने ही गया, वह था
मधुर मधुमास !
अश्रुकण कह कर जिसे
मैंने बहाया हाय !
सूक्ष्म रूप धरे वही था
हृदय - हारी हास !
कितना निठुर उपहास !
स्वप्न - सुख की आस में
सोया रहा दिन रात,
वह गया नित लौट शत-शत
बार आकर पास !
कितना निठुर उपहास !

३२

रँगे कोई मेरे रँग भी !
कोयल की मीठी बोली से
—गाता कब न भला मैं जी से !
पार कर रहा राह इसी से !
जले हैं जी, मेरे अँग भी !
मरु - यात्री को प्यास नहीं क्या !
चिर-असफल को आस नहीं क्या !
उनका निकट निवास कहीं क्या !
चले कोई मेरे सँग भी !

३४

ठहरो, दो बातें किए चलें।
बोलो कब हँसे ? अभी तक तो
हैं नयन तुम्हारे भरे नहीं ?
कब चीर दिया उर ? तुम्हें
प्यार भी करने आया अरे ! नहीं !
पागल हो ? क्या फिर आओगे ?
लो, चलो, आज मधु पिए चलें !
देखो, वे सब बाँधे गिरोह
शायद गुलशन की ओर चले,
अब आज सभी से घुल मिल लें,
हैं बुरे कौन, सब भले, भले !

× ×

वैसे हम कहाँ, अरे पग-पग पर
जो कि लुटाते जाते हैं !
हम जैसे तो नीची निगाह कर,
केवल आते - जाते हैं !
फिर भी जो अपने सपने हैं
उनको तो उनको दिए चलें !

३५

रुक गई नाव जिस ठौर स्वयं
माझी उसको मझधार न कह!
कायर, जो बैठे आह भरे,
तूफानों की परवाह करे,
हाँ तट तक जो पहुँचा न सका
चाहे उसको तू ज्वार न कह!
कोई तम को कह भ्रम सपना
था ढूँढ़ रहा नव पथ अपना,
उस सिन्धु पार जाने वाले को
निष्ठुर, तू बेकार न कह!

३६

तुझसे भी कुछ कह कर जाऊँ !
कितना परवश हूँ, आह ! कौन जाने
फिर आऊँ, ना आऊँ !

× ×

कर घृणा जिसे था दूर किया,
ढुलका मधु, प्याला चूर किया,
फिर से उन टुकड़ों को तेरे
आगे अब लाऊँ, ना लाऊँ !

× ×

जब सब दिन रहा मोह मृग में,
भर लूँ फिर आज तुझे दृग में,
जाता हूँ अब खुद को खोने,
तुझको फिर पाऊँ, ना पाऊँ !

३७

निश्चय जब पार पहुँचना ही
कितनी भी दूर किनार रहे !
आँखें करते ही बंद, पहुँच
जाएँ हम पार—दूर तट पर,
ऐसे जादू का काम नहीं,
जाएँगे जी, तिर कर, मिट कर,
आँधी, झंझा, तूफान खड़े देखें,
रुकना हो जिन्हें यहीं,
जाने वालों के आगे लघु
जीवन क्या, पारावार रहे !
अज्ञात क्षितिज की ओर चले हम,
ज्ञात आपदायें आएँ,
उनको निज कृति पर लाज नहीं,
हम ठुकराते क्यों शरमाएँ !
अपनी नैया खुद खे लेंगे—
यह गर्व नहीं, है साध, लगन,
बस बन्धु ! तुम्हारी उस तट से
आती इस पार पुकार रहे !

३८

कैसे आई याद आज
तुमको घर अपना परदेशी !
भूल गए क्या राह ? सुनी या
कहीं पपीहे की बोली ?
या बहार की वही बेरहम
है बयार फिर से डोली ?
जान लिया कैसे मैंने जो
देखा सपना परदेशी !
रोज़ उड़ाती थी कावों को
पर थी आज दुलार रही,
बहुत दिनों पर आज न जाने
क्यों थी साज सँवार रही,
वाम नयन कहता था—'मेरा
व्यर्थ न कँपना' परदेशी !
उड़ कर आने ही को तो थी
दुबली होती जाती मैं,
सरस सुखद रखने को जीवन
थी नित रोती जाती मैं,
मैं क्या जानूँ—विरह ताप में
कैसा तपना परदेशी !

३६

पर मैं कैसे बह चलूँ बन्धु,
मेरे जीवन की क्षीण धार !
आकर कैसे मैं मिलूँ सिन्धु !
मेरे आगे मरु पथ अपार !!

कितना निरोध, कितना विरोध,
मुझ जैसे कैसे हैं बेबस !
तुम स्वप्न समान समझ सकते,
घेरे सच को है यहाँ तमस !
है रोक, कहूँ कैसे कुछ भी,
सुन रहा—तुम रहे हो पुकार !

आदर्श सरल मालूम मुझे
पर टेढ़ा ही चलना पड़ता,
ऐसा जीवन तो भार-रूप
पर खुद को ही छलना पड़ता !

क्या करूँ, एक कण भी बन कर
आ जाता मैं तव नयन द्वार !

४०

मेरी ज्वाल लाल, स्वर्णिम,
इस पर काली छाया न करो !
बादल ! तुम मेरे नभ में
घिर-घिर फिर-फिर आया न करो !

धू-धू कर जल रहीं चिताएँ साधों की, अरमानों की,
यह उजाड़ बस्ती है कुछ मस्तानों की, दीवानों की,
मिटीं न मिट चुकने पर भी इनकी ऊँची-ऊँची लपटें,
और अभी तो शेष सभी हैं आहुतियाँ इन प्राणों की।

हँस हँस कर जलने वालों पर
आँसू बरसाया न करो !
बादल ! तुम सूने नभ में
आँसू भर-भर आया न करो !

देखी तुमने ज्योति कभी ओ अन्धकार लाने वालो !
माप सके नभ की असीमता ओ अग-जग छाने वालो !
ज्योति जगाते जो जल-जल कर उनकी दृढ़ता जानी है ?
ओ पल भर घिर कर फिर तनिक हवा में उड़ जाने वालो !

मैं मिटने की साध लिए,
मुझ पर ममता, माया न करो !
बादल ! तुम जीवन लेकर
मेरे नभ में आया न करो !

एक ढेर होगा जलते अंगारों का इस ठौर यहाँ,
बहुत शलभ आएँगे दिल से उन्हें लगाने और यहाँ,
फिर कुछ दिन के बाद लोग कह कर विभूति सिर पर लेंगे,
अरे खाक भी उनकी होगी, औरों से कुछ गौर यहाँ !

तुम तरुणों की अरुण भूमि पर
करुण राग गाया न करो !
बादल ! तुम जलते नभ में
जल कण लेकर आया न करो !

४१

क्यों अधिक आँसुओं पर ममता !
यह तो केवल कुछ बिन्दु-बिन्दु,
पर जीवन निस्तल महासिन्धु,
क्या इन्हीं छलकने वालों से
उस जलनिधि की होगी समता !

क्या श्याम धरा, आकाश नहीं ?
क्या सजल रुदन ही, हास नहीं ?
सुरसरि का नीर भरा घट में,
क्यों तृषा-विषाद नहीं थमता ?

मधुमास पास ही पतझर के,
आनन्द, हास अन्तर तर के,
क्या ज्योति-चक्र को सदा घेर
कर रहने की तम में क्षमता ?

नयनों से कर रस-दान तनिक,
अधरों पर धर मुसकान तनिक,
दुख में रुक-रुक, सुख में झुक-झुक
बढ़ता चल, तू योगी रमता !

४२

रज नहीं, तम नहीं, क्लान्ति नहीं,
पथ स्वच्छ, प्रशस्त तुम्हारा है,
मेरे मंजिल तै करने का कुछ
और प्रमाण ज्वलन्त नहीं!
सूरज उगता, चाँदनी चमकती,
झलमल करते हैं तारे,
केवल मेरा अन्तर सूना,
नीला नभ या कि दिगन्त नहीं!
पत्तों का मर्मर, कूक पिकी की
सुने कौन, जब नित चलना,
केवल मैं हूँ अपना, मेरे ये
कोई शिशिर, वसन्त नहीं।
फिर किसे बताऊँ मैं गवाह,
विश्वास न मुझ पर आह! तुम्हें,
दो शाप—तुम्हारे पथ पर चलते
रहने का हो अन्त नहीं!

४३

मैं पहन सकूँगा हार नहीं,
लगता यह मुझ को बन्ध सा !

उन्मुक्त प्राण मेरे, सह सकते—
हैं क्या घेरा नेह का ?
सङ्कीर्ण गली में तो मुझसे
चलना न बनेगा अन्ध सा !

तेरे आँखों के पानी से
विनिमय अन्तर की आग का,
कर क्षमा, जान पड़ता मुझको
यह कटु, कृत्रिम सम्बन्ध सा !

होते ही प्रात चला जाना है
हवा-संग उस ओर कहीं,
छन भर तो मुझे फैलने दे
रजनी-गन्धा की गन्ध सा !

४४

कातर स्वर से किसे पुकारूँ
जब कोई अपना भी हो ?
बन्द ही नहीं अन्ध दृगों से
भी मैं नित अनिमिष देखूँ,
अजी ! अँधेरे पर्दे में
कुछ सच न सही, सपना भी हो !
बाँह पसार छाँह में यों ही
युग-युग तक मैं पड़ा रहूँ,
इससे तो भला, मरु-स्थल में
चलकर जलना-तपना भी हो !
मिट्टी पर शबनम के साफ
हरूफों में क्या लिखा ?—पढ़ो,
मैं कैसे बोलूँ, गुनाह जब
मन में कुछ जपना भी हो !

४५

कर अङ्कित अपने चरण-चिह्न
कैसे फिर भूल गया रे?
तेरे ही मरु-पथ में मेरा
जीवन बन धूल गया रे!
अपना न सका मैं, क्यों यों ही
उसको कह दूँ बीराना?
मैं पीछे बाढ़-संग पहुँचा,
ढह पहले कूल गया रे!
अर्पण करने को सब से बढ़
कर ढूँढ़ रहा था, पाया,
हा! छू न सका था, त्यों ही पर
झर वह भी फूल गया रे!
जैसे मैंने खोल कर हृदय
तुझसे मिलने की ठानी,
कुछ चुभे, उजाड़ समझ कर था
कोई रख शूल गया रे!

४६

कितने दिनों के बाद
आज आई है अचानक
देव, तेरी याद !
तनिक भी खुशबू कहीं तो मिल सकी न मुझे,
बाग में यों बैठ
साँसों को किया बरबाद !
था सुना—सब भाव जीवन के क्षणिक, चञ्चल,
पा मुझे जाने हुआ
कैसे अचल अवसाद !
साध अतल अथाह, कितनी साधना लघु, आह !
काव्य ज्योति अरूप का,
पर रूप छायावाद !
क्या कहूँ—मैं पास आकर भी उदास अधिक
—याद तब तेरी हुई
जब खो दिया उन्माद !

४७

अब लौट चलूँ धर चरण-चिह्न अपना ,
मिलता न सत्य, इस ओर घोर सपना !
मिटती न प्यास, थी जलधि-आस झूठी ,
क्या नई खोज, सब रोज-रोज-जूठी !
ऊँचे भविष्य की ओर बढ़ी ममता ,
खो गई दृष्टि की रही-सही समता !
यों निराधार हो भार किया दूना ,
कैसी उड़ान जब आसमान सूना !
अभिशाप कह रहा हूँ वैसे वर को ,
परदेश छोड़ अब लौट रहा घर को !
मुझको न चाहिए जी ! भविष्य, सपना ,
मैं माँग रहा सच्चा अतीत अपना !

४८

सूखता मैं जा रहा,
तुम आ रहीं ज्यों पास,
मृत्यु हे! इस तिक्त जीवन
से मिटेगी प्यास?
तुम थकी आईं, न प्यास बुझा सका मैं हाय!
—दुख यही है, तुम पिओगी
—इसलिए न उदास!
देख दुर्दिन, मलिन-दृग से अश्रु-कण बिछड़ा,
एक छोटी बूँद का
कितना बड़ा उपहास!
जान कर अब क्या करोगी कौन वे मेरे,
आज तक गिनता रहा
जिनके लिए दिन, मास!
तुम तृषित हो, देर करने क्यों कहूँ भी मैं?
कौन सी अब खोखले
दिल में बची है आस?

४६

नाच रही रस-सिहर-शरीरा,
कितना सुख, मेरी बेसुध वाणी ही
आज बनी है मीरा!
अश्रु-धुली यह खुली हास में,
तिमिर पृष्ठ-गत, मुख प्रकाश में,
अटपट कहते लोग पास में,
यह विभोर, आनन्द - अधीरा!
गरल पिया इसने भर प्याला,
कहती—दिखता और उजाला,
खोकर पगली मोती-माला,
लाई उठा धूल का हीरा!

५०

कुछ तो देखा, कुछ सुना सही !
इतना ही क्या कम, लौट रहा हूँ
मैं जो खाली हाथ नहीं,
तेरी फुलवारी में आकर
दो-एक फूल तो चुना सही !
जीवन का सूत्र मिला न मिला
पर रुका नहीं ताना-बाना,
मृत्यु से, सङ्कटों से बच कर
रहने को व्यर्थ न अकुलाना,
सोने-चाँदी का नहीं, सुखद—
पर जाल स्वप्न का बुना सही।

५१

तन चला संग, पर प्राण रहे जाते हैं !
जिनको पाकर था बेसुध, मस्त हुआ मैं,
उगते ही उगते देखो, अस्त हुआ मैं,
हूँ सौंप रहा, निष्ठुर ! न इन्हें ठुकराना,
—मेरे दिल के अरमान रहे जाते हैं !
"किससे दुराव, लूँगा स्मृति-चिह्न सभी से,
कर बढ़ा कहूँगा—भूल गए न अभी से ?
था सोच रहा, अभिशाप भरे आ तब तक,
—हे देव, अमर वरदान रहे जाते हैं !
आओ, हम सब मिल आज एक स्वर गाएँ,
—रोते आएँ पर गाते-गाते जाएँ,
मैं चला मृत्यु की आँखों का आँसू बन,
मेरे जीवन के गान रहे जाते हैं !

छप रही हैं

लेखक की दो नवीनतम काव्य-कृतियाँ

१—खेवा

२—जीवन-सङ्गीत

साहित्य-दर्शन

के

युगान्तरकारी निबन्ध

१—साहित्य। २—साहित्य और धर्म। ३—साहित्य और दर्शन। ४—साहित्य और राजनीति। ५—साहित्य और संगीत। ६—साहित्य और सौन्दर्य्य। ७—साहित्य और नारी। ८—सत्यं, शिवं, सुन्दरम्। ९—भक्ति और शृङ्गार। १०—प्रेम और मृत्यु। ११—रवि और कवि। १२—गीता और गीताञ्जलि। १३—मीरा और महादेवी। १४—मुद्राराक्षस और जूलियससिज़र। १५—जयदेव और विद्यापति। १६—उर्दू का सजल साहित्य। १७—कालिदास और श्रीहर्ष। १८—वैदिक वाङ्मय। १९—शेली और कीट्स। २०—माइकेल की प्रमीला। २१—उपमा कालिदासस्य। २२—वियोगी की कल्पना। २३—साकेत की ऊर्म्मिला। २४—रवीन्द्रनाथ की उपेक्षिता और २५—निराला की काव्य-कला। पढ़ने में उपन्यास का सा आनन्द। भाषा सरल गङ्गाप्रवाह सी तरल। आरम्भ में समीक्षा-साहित्य पर गम्भीर गवेषणा।

संस्कृत-साहित्य में युगान्तर

काकली

[बालकवि श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री]

संस्कृत में विश्व की आधुनिक शैली के गीति-काव्य की प्रथ: पुस्तक। प्रतिभाशाली कवि की बाल्यावस्था की लोक-प्रशंशि कमनीय कृति। हिन्दी-बंगला-अंग्रेज़ी-संस्कृत के धुरन्धर विद्वा: तथा पत्र-पत्रिकाओं ने मुक्त कण्ठ से इसके रचयिता को जयदेव कह है। मुद्रण-प्रकाशन अति सुन्दर। मूल्य केवल ६ आने

वन्दी-मन्दिरम्

संस्कृत-साहित्य में युगान्तर उपस्थित करने वाला सर्व-प्रथ मौलिक राष्ट्रिय काव्य-ग्रन्थ। कालिदास के मन्दाक्रान्ता छन्द की १२०० स्वच्छ-सजल पङ्क्तियां। 'लैंसलॉट और एलेन' तथा 'ए टे ऑफ टू सिटीज़' से अधिक करुण तथा मार्मिक। कवि की या अपूर्व प्रतिभा हृदय पर अमिट छाप छोड़ देगी। सानुवाद संस्कर शीघ्र ही प्रकाशित होगा।